भाषाविज्ञान

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी०ए० ऑनर्स, एम०ए०

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

संस्करण : 2020
प्रतियाँ : 1000

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. 94683 40497, 81684 90221**
मुद्रक :

दो शब्द

भाषाविज्ञान का अर्थ है सारे संसार की विभिन्न भाषाओं का विशेष अध्ययन। क्योंकि भाषा विज्ञान का संबंध संसार की सभी भाषाओं से है। पहले यह व्याकरण का एक भाग था। इसलिये इसे सर्वप्रथम तुलनात्मक व्याकरण (Comparative Grammar) के नाम से पुकारा जाता था। इसके पश्चात् (Linguistic Grammar), किसी ने (Linguistic) किसी ने (Glottology or Science of Tongue) कहा है। परन्तु अब इससे भाषा ज्ञान (Philology) का नाम दिया गया है। वस्तुतः भाषा विज्ञान वह विज्ञान जिसमें अनेक भाषाओं का विशेष अध्ययन होता हैं प्रस्तुत पुस्तक को मैंने अधोलिखित दो भागों में बाँटा है।

भाग I – इस भाग में (1) भाषा एवं भाषा के विविध रूप, (2) भाषा विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विज्ञान, (3) भारत में भाषा अध्ययन की प्राचीन परम्परा, (4) ध्वनि विज्ञान, (5) भाषा परिवार एवं भारत के आर्येतर भाषा परिवार, (6) आर्य परिवार की भाषाएँ, (7) आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्य भाषाएँ आदि मुख्य विषयों को प्रश्नोत्तर रूप में लिखा है।

भाग II – इस भाग में (1) भाषा विज्ञान का अध्ययन, (2) अर्थ विज्ञान, (3) हिन्दी भाषा का अध्ययन, (4) मानक हिन्दी, (5) लिपि विषयक अध्ययन आदि मुख्य विषयों को प्रश्नोत्तर में लिखा गया है।

वस्तुतः प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री जयकिशन जी, श्री नरेश बंसल जी, श्री लालचन्द जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि इनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन न हो पाता। मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्ताओं का भी अत्यंत धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों से मैंने संदर्भ उद्धृत किये हैं। वस्तुतः बोलना सरल है परन्तु लिखना अत्यधिक कठिन है। जैसे संस्कृत में एक उक्ति प्रसिद्ध है–

शतं वद एकं मा लिख

अर्थात् सौ बार कहो परन्तु एक बार भी मत लिखो। क्योंकि लेखन में

यदि कोई त्रुटि रह जाये तो वह तुरन्त पकड़ी जाती है और लेखक की पोल खुल जाती है । अतः मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है । परन्तु संसार का प्रत्येक व्यक्ति अल्पज्ञ एवं अपूर्ण है । अतः कोई भी त्रुटि रह गई हो तो पाठकों से क्षमा चाहूँगा ।

विशेष सूचना – पाठकों को सूचित किया जाता है कि मैंने प्रस्तुत पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ एम.एम. हिन्दी के सेमेस्टर सिस्टम के अनुसार लिखी है । इसमें केवल महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की सूची ही प्रस्तुत की गई जो बहुधा परीक्षा में पूछे जाते हैं । शेष प्रश्नों के अध्ययन के लिए पाठकों को अन्य पुस्तकों का अध्ययन करना होगा ।

दिनांक : 12.3.2020

धर्म पाल कपूर

(धर्मपाल कपूर)
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

निवेदन

श्री धर्मपाल कपूर जी द्वारा लिखित भाषा विज्ञान भाग-1 एवं भाग-2 की पुस्तक का अवलोकन करने पर ज्ञात हुआ है कि इन्होंने अथक परिश्रम करके पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर स्तर के विद्यार्थियों के लिए चुनिंदा प्रश्नों को इसमें पिरोकर अभूतपूर्व कार्य किया। यह कार्य ऐसे विद्यार्थियों के लिए निस्संदेह बहुत लाभपूर्ण होगा जो पंजाब विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर स्तर तक की शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। ऐसा मेरा विश्वास है। विद्यार्थियों की कठिनाई को समझते हुए आन्तरिक मूल्यांकन के आधार पर चुनिंदा प्रश्नों के उत्तर उन्होंने बड़ी ही सावधानीपूर्वक दिये हैं।

इस पुस्तक के भाग-1 में भाषा एवं इसके विविध रूप, आधुनिक भाषाविज्ञान, भारत में भाषा अध्ययन की प्राचीन परम्परा, भाषा एवं भाषा आर्येतर परिवार एवं आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्यभाषाओं पर बड़ी सूक्ष्मता से प्रकाश डाला है एवं मुख्य बिन्दुओं को बड़ी सजीवता से उकेरा है। इसके साथ पुस्तक के भाग-2 में भाषा विज्ञान का अध्ययन, अर्थ विज्ञान, हिन्दी भाषा का अध्ययन, मानक हिन्दी, लिपि विषयक अध्ययन आदि मुख्य विषयों पर भी चर्चा की है।

आर्यपरिवार की भाषाओं में वैदिक संस्कृति की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना, लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना, अपभ्रंश की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का सामान्य परिचय—मराठी, गुजराती, बंगला, असमी एवं उड़िया पर भी विस्तृत रूप से लेखनी चलाई है। हिन्दी की प्रमुख लिपि देवनागरी को भारत की सबसे अधिक सम्पन्न, शास्त्रीय, बहुप्रयुक्त और समृद्ध लिपि के रूप में चरितार्थ करने का भरसक प्रयास किया है। प्राचीनता, विस्तार संख्या, व्यावहारिकता तथा महत्त्व की दृष्टि से ब्राह्मी-प्रसूत लिपियों में देवनागरी अपेक्षाकृत गुणयुक्त, वैज्ञानिक, उपयोगी तथा वरेण्य लिपि सिद्ध हुई है।

डॉ. शिवराज वर्मा के अनुसार, ''राष्ट्रीय सम्मान की दृष्टि से भी हिन्दी की लिपि देवनागरी पर्याप्त वैज्ञानिक तथा सक्षम है। भारतीय भाषाओं में

प्रचलित प्रायः सभी ध्वनियों को अंकित करने की क्षमता इस लिपि में है। राजभाषा हिन्दी तथा उसकी लिपि देवनागरी दोनों को जो सांविधिक मान्यता प्राप्त हुई है, वह सर्वथा राष्ट्रभावना के अनुरूप है। इसके क्रम में कुछ बिन्दु पर प्रकाश डाला जा सकता है–

1. देवनागरी में लिपि-अक्षर चिह्नों का क्रम अति वैज्ञानिक है।
2. व्यंजन वर्णों का विभाजन भी वैज्ञानिक है।
3. इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए अलग-अलग चिह्न हैं तथा प्रत्येक लिपि चिह्न की ध्वनि अलग-अलग है।
4. भारत की प्राचीन तथा प्रमुख भाषा संस्कृत की लिपि होने के कारण यह भारतीय लिपियों में सम्बन्ध-स्थापना का माध्यम रही है।
5. इसमें भारतीय भाषाओं की ध्वनियों को व्यक्त करने की पर्याप्त क्षमता है।
6. इस लिपि के समान कोई अन्य लिपि ध्वन्यात्मक तथा वैज्ञानिक नहीं है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि श्री धर्मपाल कपूर जी का यह प्रयास अत्यंत ही सराहनीय है। इससे विद्यार्थियों को अपनी परीक्षा की तैयारी करने में बड़ी ही सहायता मिलेगी। स्नातकोत्तर विद्यार्थी इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। अतः श्री धर्मपाल कपूर जी इसके लिए बधाई के पात्र है। मैं ईश्वर से उनके उत्तम स्वास्थ्य और दीर्घायु की कामना करता हूँ जिससे वे अपनी लेखनी चला कर इसी प्रकार से समाज को एक नई दिशा प्रदान कर सके। इन्हीं शब्दों के साथ-साधुवाद।

जय किशन एम.ए.
गाँव कोट जिला पंचकूला (हरि.)
मोबाइल 9468340497

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मो० : 9356301618

एम.ए. हिन्दी (तृतीय सेमेस्टर) परीक्षा

भाषाविज्ञान एवं हिन्दीतर भाषाओं का अध्ययन

(प्रथम प्रश्न-पत्र)

पूर्णांक : 80 **आन्तरिक मूल्यांकन : 20** **समय : 3 घण्टे**

निर्देश एवं अंक विभाजन-

इस प्रश्न-पत्र में प्रश्न दो स्तरों पर पूछे जायेंगे। पहले स्तर पर सम्पूर्ण पाठ्यक्रम से आठ दीर्घ प्रश्न पूछे जाएंगे। जिनमें से चार का उत्तर देना आवश्यक होगा। प्रश्न-पत्र इस प्रकार से निर्धारित होगा, जिससे सारा पाठ्यक्रम समेटा जा सके। खण्ड (क) में से दो आलोचनात्मक प्रश्न और खण्ड में से भी दो आलोचनात्मक प्रश्न करने अनिवार्य होंगे।

दूसरे स्तर पर सम्पूर्ण पाठ्यक्रम से बिना विकल्प के आठ लघु प्रश्न पूछे जाएंगे जिनमें से पाँच का उत्तर देना आवश्यक होगा, प्रत्येक प्रश्न के निर्धारित अंक 4 हैं। शब्द सीमा 60-70 शब्दों में दिया जाए।

अंक विभाजन -

दीर्घ प्रश्न	15×4=60 अंक
लघूत्तरीय प्रश्न	5 ×4=20 अंक

पाठ्यक्रम-

खण्ड : क

1. भाषा एवं भाषा विज्ञान
   - (क) भाषा : परिभाषा तथा प्रकृति।
   - (ख) भाषा के विविध रूप : व्यक्ति बोली, उपबोली, मातृभाषा, राज्यभाषा, राजभाषा, राष्ट्रभाषा, सम्पर्क भाषा एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा।

(ग) भाषा-विज्ञान : स्वरूप, अध्ययन की शाखाएँ, आधुनिक भाषा विज्ञान का सामान्य परिचय ।

(घ) भारत में भाषा अध्ययन की प्राचीन परम्परा : शिक्षा, प्रातिशाख्य, निरुक्त, यास्क, पाणिनि, भर्तृहरि ।

2. ध्वनि विज्ञान

ध्वनि की उत्पत्ति प्रक्रिया, ध्वनि यंत्र, ध्वनि के प्रकार, स्वर तथा व्यंजन, स्वरों का वर्गीकरण, व्यंजनों का वर्गीकरण ।

खण्ड ख

1. भाषा परिवार

(क) भाषा परिवार से आशय ।

(ख) भारत में आर्येतर भाषा परिवार और उनकी भाषाओं का सामान्य परिचय : द्रविड़ परिवार की भाषाएँ—तेलुगु, तमिल, मलयालम तथा कन्नड़, आग्नेय परिवार की भाषाएँ और तिब्बती चीनी परिवार की भाषाएँ ।

(ग) आर्य परिवार की भाषाएँ—वैदिक संस्कृति की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना, लौकिक संस्कृत की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना, अपभ्रंश की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना, अवहट्ट की ध्वनियाँ एवं रूप संरचना ।

(घ) आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्य भाषाओं का सामान्य परिचय—मराठी, गुजराती, बंगला, असमी एवं उड़िया ।

विषयसूची

क्रमांक पृष्ठ संख्या

1. भाषा एवं भाषा के विविध रूप

1. भाषा शब्द का अर्थ और उत्पत्ति का उल्लेख कीजिए। 1
2. भाषा के मुख्य लक्ष्यों, प्रकृति का उल्लेख कीजिए। 4
3. भाषा के प्रमुख तत्त्वों का वर्णन करते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये। 15
4. भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। 20
5. भाषा परिवर्तन की दिशाओं से क्या तात्पर्य है? भाषा-परिवर्तन की प्रमुख दिशाओं का वर्णन कीजिए। 32
6. भाषा के विविध रूप का क्या अर्थ है? बोली तथा उपबोली को संक्षेप में समझाइए। 37
7. मातृभाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में समझाइए। 44

2. भाषाविज्ञाान एवं आधुनिक भाषाविज्ञान

1. भाषाविज्ञान को परिभाषित करते हुए इसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

   अथवा

   भाषाविज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालिये। 50
2. भाषाविज्ञान के प्रमुख तथा गौण अंगों का वर्णन कीजिए।

   अथवा

   भाषाविज्ञान की विभिन्न शाखाओं को संक्षेप में समझाइए। 52
3. भाषाविज्ञान के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों (प्रणालियों एवं प्रकारों) का संक्षिप्त परिचय दें। 57
4. भाषा विज्ञान की परिभाषा देकर उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालें। 58
5. आधुनिक भारतीय भाषा विज्ञान का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए। 61

3. भारत में भाषा अध्ययन की प्राचीन परम्परा

1. वेदांक निरुक्त का वर्णन कीजिए 67

   अथवा

ऋषि याचक का परिचय देते हुए उनकी कृति ''निरुक्त'' की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए ।

2. वेदांग व्याकरण की परम्परा में पाणिनि के योगदान का उल्लेख कीजिए । 71

अथवा

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

3. मुनित्रयी में स्थान पाने वाले मुनि पतंजलि का भाषा के क्षेत्र में क्या योगदान है ? 76

अथवा

महाभाष्यकार पतंजलि पर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।

4. ध्वनि विज्ञान

1. ध्वनि परिवर्तन के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए । 80

अथवा

ध्वनि परिवर्तन के आन्तरिक तथा बाह्य कारणों पर प्रकाश डालिये ।

2. ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं का सोदाहरण उल्लेख करें । 84
3. स्वर (अच्) की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिए । 86
4. व्यंजन (हल्) की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिए । 87

5. भाषा परिवार एवं भारत में आर्येतर भाषा परिवार

1. विश्व के विभिन्न भाषा परिवारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए । 91

अथवा

भूखण्डों की दृष्टि से विश्व के भाषा परिवारों का उल्लेख कीजिए ।

2. द्रविड़ परिवार की तमिल भाषा का परिचय देते हुए इसकी साहित्यिक परम्परा पर प्रकाश डालिये । 101
3. द्रविड़ परिवार की तेलुगु भाषा के विकास का वर्णन कीजिए ।

अथवा

तेलुगु भाषा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इसकी साहित्यिक परम्परा का वर्णन कीजिए । 105

4. द्रविड़ परिवार की मलयालम भाषा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए । 109

अथवा

मलयालम भाषा के उद्भव तथा विकास का वर्णन कीजिए ।

5. कन्नड़ भाषा पर सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए। 113

अथवा

द्रविड़ परिवार की कन्नड़ भाषा के उद्भव तथा विकास का वर्णन कीजिए।

6. भाषाओं के तिब्बत-चीनी परिवार का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिये।

अथवा

तिब्बत-चीनी परिवार की प्रमुख भाषाओं का वर्णन कीजिए। 118

6. आर्य परिवार की भाषाएँ

1. आर्य परिवार की भाषा से क्या तात्पर्य है? प्राचीन भारतीय आर्यभाषा वैदिक संस्कृत का परिचय दीजिए। 127

अथवा

वैदिक संस्कृत की ध्वनियों तथा रूप संरचना पर प्रकाश डालिये।

2. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा लौकिक संस्कृत या संस्कृत की ध्वनियों, रूप-संरचना का संक्षेप में वर्णन कीजिए। 130

अथवा

संस्कृत भाषा के विकास का वर्णन करते हुए वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर बताइए।

3. भार की मध्यकालीन आर्यभाषाओं का परिचय दीजिए। 134

अथवा

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा पालि और प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

7. आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्यभाषाएं

1. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। 146

2. आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्यभाषा मराठी तथा गुजराती का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। 154

अथवा

मराठी तथा गुजराती भाषा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।

1. भाषा एवं भाषा के विविध रूप

1. भाषा शब्द का अर्थ और उत्पत्ति का उल्लेख कीजिए।

उत्तर – मानव जीवन में भाषा का अत्यधिक महत्त्व है, क्योंकि वह भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है। मानव एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए उसे निरन्तर अपने भावों और विचारों को दूसरों पर अभिव्यक्त करना पड़ता है एवं दूसरों के भावों और विचारों को ग्रहण करना पड़ता है। ऐसा वह भाषा के माध्यम से ही कर सकता है। निस्संदेह कुछ भाव एवं विचार विभिन्न संकेतों द्वारा भी ग्रहण किये और कराये जाते हैं, परन्तु उनसे सामाजिक जीवन का समस्त कार्य व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए मानव जीवन में भाषा की सदैव अपेक्षा रहती हे और उसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

भाषा का अर्थ एवं उत्पत्ति

'भाषा' शब्द संस्कृत का तत्सम शब्द है और इसकी व्युत्पति व्यक्त वाण्यर्थक भाष् धातु से होती है। भाषण शब्द इसी धातु से बनता है, परन्तु भाषण और भाषा के अर्थों अन्तर है। भाषण व्यक्तिगत होता है और इसका सम्बन्ध व्यक्ति विशेष से रहता है, जबकि भाषा सामाजिक वस्तु है और इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से रहता हैं अंग्रेज़ी में भाषा के लिए लैंग्वेज (Language) शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसका सम्बन्ध लैटिन के शब्द लिंग्वा (Lingua) से एवं फ्रांसीसी शब्द लांग (Langue–Language) से है। इस प्रकार लैंग्वेज शब्द भी मानवीय बोली (Human speach) का ही वाचक है। कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा शब्द का प्रयोग सभी प्राणियों द्वारा भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले सभी साधनों के लिए किया है, परन्तु वह असंगत है। 'भाषा' शब्द का प्रयोग मानव की व्यक्त वाणी के लिए ही संगत है। पशु-पक्षियों द्वारा उच्चारित ध्वनियों के लिए भाषा शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। हिन्दी, पंजाबी आदि में इसके लिए 'बोली' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जैसे कुत्ते की बोली, बिल्ली की बोली, कौए की बोली आदि। यद्यपि यहाँ भी उसका प्रयोग

लाक्षणिक ही है और उसे मनुष्य की बोली की समता नहीं दी जा सकती ।

लोक-व्यवहार में भाषा शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में होता है । सामान्यतः मनुष्य द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली सभी सभ्य एवं असभ्य बोलियों को, प्रान्तीय एवं स्थानीय बोलियों को, शुद्ध परिनिष्ठित भाषा को एवं राष्ट्रभाषा को भाषा ही कहा जाता है । इतना ही नहीं विभिन्न व्यक्तियों को उनकी निजी विशेषताओं से युक्त बोली को भी भाषा कहा जाता है । जैसे भगवान् राम की भाषा, श्रीकृष्ण की भाषा, गाँधी जी की भाषा, नेहरु जी की भाषा आदि । किसी नगर अथवा ग्राम में रहने वाली विभिन्न जातियों की बलियों को भी भाषा कह दिया जाता है, जैसे ब्राह्मणों की भाषा, ठाकुरों की भाषा, बनियों की भाषा, धोबियों की भाषा, चर्मकारों की भाषा, हरिजनों की भाषा आदि । इस प्रकार विभिन्न कार्य करने वालों की बोली को भी भाषा कहा जाता है । जैसे–अध्यापकों की भाषा, सुनारों की भाषा, लुहारों की भाषा, जाटों की भाषा, नाइयों की भाषा आदि । एक स्थान पर रहने वाले विभिन्न धर्मविलम्बियों की बोलचाल में व्यवहृत बोली को भी भाषा कहते हैं, जैसे–हिन्दुओं की भाषा, ईसाइयों की भाषा, सिक्खों की भाषा, जैनियों की भाषा आदि । इसी प्रकार वीरों की भाषा, कायरों की भाषा, संतों की भाषा, कवियों की भाषा, मूर्खों की भाषा, पुलिस की भाषा, तलवार की भाषा आदि प्रयोग देखे जा सकते हैं । इनके अतिरिक्त योगियों और सन्तों की रहस्यमयी भाषा, ठगों की कृत्रिम भाषा, प्रेमियों की रागमयी भाषा आदि का भी व्यवहार देखा जा सकता है । इस प्रकार लोक-व्यवहार में भाषा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में उपलब्ध होता है ।

भाषा की परिभाषाएँ–

भाषा का स्वरूप, भाषा की परिभाषा, भाषा का लक्षण करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न पद्धतियों को अपनाया है । जैसाकि पीछे बताया गया है– ''भाषा शब्द–भाष् धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है 'व्यक्त वाणी' अर्थात् वर्णों में व्यक्त सार्थक वाणी'' । निरुक्तकार महर्षि यास्क ने और अष्टाध्यायी मे रचयिता महावैयाकरण पाणिनि ने स्वतन्त्र रूप से भाषा की कोई परिभाषा नहीं दी, परन्तु दोनों ने छन्द्स अथवा वैदिक

भाषा की तुलना में लौकिक बोलचाल की संस्कृत के लिए शब्द का प्रयोग अवश्य किया है। महर्षि पतंजलि ने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर लिखे अपने महाभाष्य में भाषा की परिभाषा करते हुए लिखा है–

जो वाणी में व्यक्त होती है उसे भाषा कहते हैं।

क्षीरस्वामी ने लिखा है–

जो व्यक्त वर्णों के रूप में बोली जाती है उसे भाषा कहते हैं।

भाषा वाक् शक्ति का समाजीकरण हैं वाक् का क्षेत्र विस्तृत होता है। वह एक ओर व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है और दूसरी ओर समाज से। वह एक नैसर्गिक वस्तु है। उसके विपरीत कार्य का क्षेत्र सीमित होता है। वह वाक् की एक निश्चित इकाई है जिसका सम्बन्ध किसी समाज विशेष से रहता है। वह अर्जित वस्तु है जो समाज विशेष से सम्बद्ध रखती है। दार्शनिकों एवं साहित्यशास्त्रियों ने ध्वनि, वर्ण, शब्द, वाक्य, अर्थ आदि भाषा के अंगों पर तो विचार किया है, परन्तु भाषा को सम्भवतः सुनिश्चित वस्तु समझकर छोड़ दिया है।

आधुनिक काल में हिन्दी में वैयाकरणों तथा भाषा वैज्ञानिकों ने भाषा की परिभाषाएँ की हैं। श्री कामता प्रसाद गुरु का कहना है –

भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली-भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचार स्वयं स्पष्टतया समझ सकता है।

डॉ. श्यामसुन्दर दास ने लिखा है–

मनुष्य और मनुष्य के बीच वस्तुओं के विषय में अपनी इच्छा और मति का आदान-प्रदान करने के लिए व्यक्त ध्वनि-संकेतों का जो व्यवहार होता है उसे भाषा कहते हैं।

हैनरी स्वीट ने लिखा है–

जिन व्यक्त ध्वनियों द्वारा विचारों की अभिव्यक्ति होती है उन्हें भाषा कहते हैं।

ए. एच. गार्डिनर का कहना है–

विचारों की अभिव्यक्ति के लिए जिन व्यक्त एवं स्पष्ट ध्वनि संकेतों का व्यवहार किया जाता है उन्हें भाषा कहते हैं।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई इन परिभाषाओं का अनुशीलन करने पर हम निम्नलिखित तथ्यों को प्राप्त करते हैं–

(1) भाषा एक सामाजिक वस्तु है ।

(2) भाषा में ध्वनि-संकेतों का प्रयोग होता है जो रूढ़ एवं परम्परागत होते हैं, परन्तु आवश्यकतानुसार नये भी निर्मित किये जा सकते हैं ।

(3) ये ध्वनि-संकेत मानव के भावों और विचारों को अभिव्यक्त करते हैं जिनकी पुनरावृत्ति भी हो सकती है ।

(4) इन ध्वनि-संकेतों के रूढ़िगत अर्थ होते हैं ।

(5) प्रत्येक समाज एवं वर्ग के ध्वनि-संकेत स्वनिर्मित होने के कारण दूसरे समाज एवं वर्ग के ध्वनि-संकेतों से पृथक होते हैं ।

(6) इन ध्वनि-संकेतों से वक्ता और श्रोता पारस्परिक भावों और विचारों का विनिमय करते हैं ।

(7) ये ध्वनि-संकेत मानव के उच्चारणोपयोगी अवयवों से वर्णों के रूप में व्यक्त होते हैं ।

(8) ये ध्वनि-संकेत सार्थक होते हैं, इनका अध्ययन, वर्गीकरण और विश्लेषण किया जा सकता है ।

इन तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए भाषा की निम्नलिखित परिभाषा की जा सकती हैं–

भाषा यादृच्छिक उच्चरित ध्वनि-प्रतीकों की वह सार्थक समष्टि है जिसके माध्यम से किसी समाज अथवा वर्ग विशेष के मानव परस्पर भावों एवं विचारों को अभिव्यक्त करते हैं ।

2. भाषा के मुख्य लक्ष्णों, प्रकृति का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर– भाषा का प्रकृति से अभिप्राय ''भाषा का सहज-स्वाभाविक गुण (लक्षण)'' । विदित है कि भाषा का समाज से गहरा सम्बन्ध है । वस्तुतः समाज के अभाव में भाषा की कल्पना करना सर्वथा असंगत प्रतीत होता है । मानव समाज में रहकर ही भाषा सीखता है । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है

कि भाषा समाज में रहकर ही मानव को प्राप्त होती है, वह न तो आकस्मिक वस्तु है और न ही किसी की पैतृक सम्पत्ति है । वह तो अनुकरण द्वारा सीखी जाने वाली वस्तु है और मानव उसे अनुकरण द्वारा ही अर्जित करता है । वह सदैव परिवर्तित होती रहती है, किसी के बन्धन में विकसित नहीं होती । उसका प्रवाह नैसर्गिक एवं प्राकृतिक होता है । इसके अतिरिक्त वह परम्परागत भी होती है । इस प्रकार भाषा की प्रकृति विविधरूपा है । उसकी प्रकृति या लक्षणों को अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत समझा जा सकता है–

1. **भाषा एक सामाजिक वस्तु है –** भाषा एक सामाजिक वस्तु है और उसका सम्बन्ध भाषा-भाषी समाज के प्रत्येक व्यक्ति से रहता है । उसका विकास, अर्जन और प्रयोग तीनों ही समाज में होते हैं । यहाँ तक कि भाषा की उत्पत्ति भी समाज द्वारा ही सम्भव है । इसलिए भाषा के पूर्ण रूप को समझने के लिए उस समाज व वातावरण का ज्ञान आवश्यक है । जहाँ वह व्यवहृत होती है । मनुष्य समाज में तो भाषा का व्यवहार करता ही है, एकान्त में उसके मनन् चिन्तन का आधार भी भाषा है । मनुष्य जब अपने से ही बात करता है तो उसके व्यक्तित्व का एक पक्ष सामाजिक रूप ग्रहण कर लेता है । स्वयं अपने से जब मनुष्य प्रश्न करे और उत्तर भी स्वयं देता चले तो भाषा की सामाजिकता स्पष्ट हो जायेगी ।

भाषा की उत्पत्ति सामाजिक संसर्ग के कारण होती है । जब हम भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हैं तो मुख्यतः तीन बातों का ध्यान रखते हैं । एक तो बोलने की शक्ति कैसे और कब उत्पन्न होती है, दूसरे उच्चरित ध्वनियों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित होता है और तीसरे यह अर्थ सम्बन्ध किस प्रकार कहाँ व्यापक होता रहता है । इन तीनों स्थितियों की कल्पना किसी समाज के अभाव में नहीं की जा सकेगी । यह कहा जा सकता है कि ध्वनि-उत्पादन की क्षमता मनुष्य में जन्मजात होती है, किन्तु उसके प्रयोग का अवसर समाज ही प्रदान करता है ।

मातृभाषा शब्द का साधारण अर्थ है 'माता की भाषा' , परन्तु माता उस भाषा की निर्मात्री नहीं होती, वरन् पूर्व पुरुषों से प्राप्त भाषा को अपने शिशुओं तक पहुँचाने का उसी प्रकार कार्य करती है जिस प्रकार उसने स्वयं

उसे अपनी माता से प्राप्त किया हैं अतः उसके प्रति ऋण को स्वीकार करते हुए और कृतज्ञता को व्यक्त करते हुए 'मातृभाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। शिशु जन्म लेने के बाद जिस भाषा-भाषी समाज से पालित-पोषित होता है उसी की भाषा को सीखता है। यदि किसी शिशु का पालन पोषण किसी दूसरे देश में होता है तो वह वहाँ की भाषा सीखता है। आज जो भारतीय कार्यवश, अमरीका, इंग्लैंड, रूस आदि दूसरे देशों में रह रहे हैं वे आज वहीं की ही भाषा सीख रहे हैं। यही स्थिति बंगाल में रहने वाले महाराष्ट्रियन परिवार के बच्चों की अथवा मद्रास में रहने वाले हरियाणवी परिवार के बच्चों की अथवा उत्तर प्रदेश में रहने वाल मद्रासी परिवार के बच्चों की कही जा सकती है। ऐसे बच्चे घर में मातृभाषा भी सीख जाते हैं और इस प्रकार दो-दो अथवा तीन-तीन भाषाओं के ज्ञाता हो जाते हैं।

2. भाषा परम्परागत वस्तु है – सामाजिक वस्तु के साथ साथ भाषा परम्परागत वस्तु भी है क्योंकि प्रत्येक समाज में भाषा का प्रचार एवं प्रसार दीर्घ परम्परा से होता है, परन्तु वह स्वतः ही उस समाज के व्यक्तियों को (शिशुओं आदि को) प्राप्त नहीं हो पाती, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। प्रत्येक भाषा की एक परम्परागत धारा होती है, जिसमें भाषण कृत भेदों की तरंगें इतस्ततः उठती एवं प्रचलित होती रहती हैं। यह धारा निरन्तर परिवर्तनशील होने पर भी नित्य-स्थायित्व को ग्रहण किये रहती है। कहने का भाव यह है कि समाज विशेष की प्रत्येक पीढ़ी अपने लिए नई-नई भाषा का विकास नहीं करती। पूर्वजों से प्राप्त भाषा को ही वह अपने अनुकूल ढाल कर व्यवहार योग्य बना लेती है और इसी प्रक्रिया में उपयोगी रूपों का निर्माण तथा अनुपयोगी रूपों का विनाश होता रहता है। भाषा की परम्पराएँ व्यापक क्षेत्र में फैली हुई रहती हैं। यह सम्भव है कि एक मानव समुदाय की भाषा को दूसरे समुदाय के सदस्य न समझ सकें क्योंकि उनकी भाषा परम्पराएँ तथा संगृहीत संकेतार्थ भिन्न हो सकते हैं, किन्तु यह सम्भव नहीं है कि कोई समुदाय भाषा-मात्र से रहित हो। उसके पारस्परिक विचार विनिमय की जो भी भाषा होगी उसका अर्थग्रहण परम्परागत हो। उसके पारस्परिक विचार विनिमय की जो भी भाषा होगी उसका अर्थग्रहण परम्परागत नियमों के आधार पर होता है। वे यथासम्भव भाषा में नवीनता लाने का आग्रह नहीं

करते वरन् उसके परम्परित व प्रचलित रूप का ही प्रयोग करते हैं। हिन्दी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, बंगाली, बघेली, बांगरू, पंजाबी, बुन्देली, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि भारतीय तथा लैटिन, ग्रीक, जर्मन, रूसी, फ्रेंच, अंग्रेज़ी आदि विदेशी, सभी भाषाओं एवं उपभाषाओं के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है। सभी की अपनी-अपनी लम्बी परम्परा है। अतः भाषा परम्परागत वस्तु है।

3. भाषा अर्जित सम्पत्ति है – यद्यपि भाषा परम्परागत है और उत्तराधिकार में प्राप्त होती है तथापि वह अर्जित सम्पत्ति है। उसका हमें अर्जन करना पड़ता है। शरीर के अंगों के समान अथवा धन सम्पत्ति के समान वह हमें स्वतः नहीं मिल जाती। हमें उसे सीखना पड़ता है। मनुष्य जिस समाज अथवा वातावरण में रहता है, अपनी नैसर्गिक बुद्धि से उसी की भाषा सीखता है। वह किसी भाषा-विशेष को साथ लेकर उत्पन्न नहीं होतां भाषा की सामाजिकता का यह अनिवार्य परिणाम होता है कि जो व्यक्ति जिस समाज में रहता है वह उसी की भाषा सीखता है। जब एक भाषा-भाषी प्रदेश का व्यक्ति दूसरे भाषा-भाषी प्रदेश में जाकर रहने लगता है तो वह उसी दूसरे भाषा-भाषी प्रदेश की भाषा सीख लेता है। यही भाषा का अर्जन है। जब मुसलमान भारत में आये तो भारतीयों ने उनकी भाषा फारसी भी सीख ली। उन्होंने भी यहाँ की भाषा हिन्दी सीखी और उसे हिन्दवी कहकर पुकारा। उसके बाद अंग्रेज़ आये तो भारतीयों ने उनकी भाषा अंग्रेज़ी भी सीख ली और अंग्रेज़ों ने भी हिन्दी, पंजाबी, मराठी, बंगला, तेलुगु आदि भारतीय भाषाएँ सीखीं। इस प्रकार दोनों देशों के निवासियों ने दोनों भाषायें सीख लीं। जब मुसलमान स्थायी रूप से भारत में बस गये तो वे फारसी को भूल गये और भारतीय भाषाओं का ही अर्जन करने लगे, क्योंकि अब वे भारतीय समाज के अंग बन गये थे। यहाँ तक कि अमीर खुसरो ने लिखा है–

> **मैं हिन्दुस्तानी तुर्क हूँ और हिन्दवी में उत्तर देता हूँ। मेरे पास मिस्र की शक्कर नहीं है जिससे मैं अरबी में बात कर सकूँ।**

अतः भाषा अर्जित सम्पत्ति है जिसे अपने चारों ओर के वातावरण से सीखना पड़ता है। व्यक्ति अपने वातावरण के अनुकूल अथवा अनेक भाषाएँ सीख सकता है।

4. भाषा अनुकरण से सीखी जाती है – भाषा कभी स्वतः नहीं आती, वह अनुकरण से सीखी जाती है, माता-पिता, भाई-बहन, संरक्षक-शिक्षक आदि उस शिक्षण-प्रक्रिया में सहायक होते हैं । जैसे वे बोलते हैं, वैसे बच्चे उनके मुख से उच्चारित ध्वनियों का अनुकरण करके बोलने लगते हैं । इस प्रकार भाषा का शिक्षण अनुकरण द्वारा होता है । जैसे दूध के घूंटों से बच्चे के शरीर का विकास होता है, वैसे ही माता-पिता आदि के द्वारा प्रयुक्त भाषा के श्रवण और अनुकरण से बच्चे का बौद्धिक विकास होता है । यदि माता-पिता पीने के पदार्थ को पानी और खान के पदार्थ को रोटी कहते हैं तो बच्चा भी उन्हें पानी और रोटी कहने लगता है । भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इसे 'व्यवहार' कहकर पुकारा है । आरम्भ में यह व्यवहार अथवा अनुकरण अधूरा एवं अपूर्ण होता है, परन्तु जैसे-जैसे बच्चे की क्षमता बढ़ती जाती है अनुकरण में पूर्णता आती जाती है । बड़ा होकर बच्चा समाज में प्रचलित ध्वनियों का अनुकरण कर उस भाषा को बोलने लगता है । प्रदेश भेद से और वातावरण के भेद से बोलने वालों की बोली में अन्तर भी हो सकता है । बच्चों द्वारा अनुकूल और शिक्षित बोली में भी वैसा ही अन्तर रहेगा । जैसे हिन्दी का अनुकरण करने वाला बच्चा ''चलता हूँ'' कहता है, परन्तु ब्रज बोलने वाला बच्चा ''चलतु हौं'' बोलता है । मैथिली बच्चा ''चलै ''छी कहता है । यह सब माता-पिता की बोली के अनुकरण का परिणाम है ।

5. भाषा परिवर्तनशील – सृष्टि की अन्य वस्तुओं के समान भाषा भी परिवर्तनशील वस्तु है और उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, परन्तु यह परिवर्तन इतना धीरे-धीरे होता है कि दिखाई नहीं देता, पर्याप्त समय के पश्चात् ही वह दृष्टिगोचर होता है । भाषा में यह परिवर्तन ध्वनि, रूप और अर्थ में आता रहता है । जैसे मेघ से मेह, दधि से दही आदि । यद्यपि शिक्षा, अनुशासन, संचार-व्यवस्था, साहित्य, समाचार-पत्र आदि के द्वारा भाषा के परिवर्तन को रोकने का प्रयास किया जाता है तथापि अलक्षित परिवर्तन होता ही रहता है और दो चार सौ वर्षों के पश्चात् थोड़ा बहुत परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगता है । पर्याप्त समय बीत जाने पर यह अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है और धीरे-धीरे इतना अधिक हो जाता है कि परिवर्तित भाषा वही होने पर

भी सर्वथा पृथक् भाषा प्रतीत होने लगती है। उदाहरण रूप में, हम वैदिक भाषा को और उससे उत्पन्न होने वाली आधुनिक आर्य भाषाओं को ले सकते हैं। वैदिक भाषा से संस्कृत, संस्कृत से पालि, पालि से प्राकृत भाषाएं, प्राकृत भाषाओं से अपभ्रंश भाषायें और अपभ्रंश भाषाओं से आधुनिक आर्य भाषाओं–हिन्दी, पंजाबी, मराठी आदि के रूप में इतना अन्तर आ गया है कि सामान्य लोग वैदिक भाषा और हिन्दी भाषा का पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार करने में हिचकिचायेंगे। इतना ही नहीं यह परिवर्तन विभिन्न स्तरों पर लक्षित होता है। ऋग्वेद में भाषा का जो स्वरूप है, वह आगे चल कर ब्राह्मण ग्रंथों और आरण्यकों में उपलब्ध नहीं होता। रामायण-महाभारत में आकर वह और भी बदल गया है, प्राकृतों और अपभ्रंशों में उसमें और भी अधिक अन्तर आ गया है और हिन्दी, पंजाबी, बंगला आदि में तो वह सर्वथा परिवर्तित हो गया है। अतः स्पष्ट है कि भाषा परिवर्तनशील होती है और उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है।

6. भाषा का प्रवाह नैसर्गिक और अविच्छिन्न है – यद्यपि भाषा परिवर्तनशील है तथापि उसका प्रवाह नैसर्गिक और अविच्छिन रहता है। वह भी रुका नहीं है। वह प्राकृतिक होता है, किसी व्यक्ति के द्वारा निर्मित नहीं होता न ही उस पर किसी एक ही व्यक्ति का अधिकार होता है। वह सम्पूर्ण समाज की सम्पत्ति होती है। प्रत्येक व्यक्ति उसका यथेच्छ प्रयोग करता है। कुर्टिउस ने उसकी तुलना एक नदी से की है। कबीर ने कहा है ''भाषा बहता नीर।'' जैसे नदी टेढ़ा-मेढ़ा मार्ग बनाती हुई निरन्तर आगे बढ़ती रहती है उसी प्रकार भाषा भी अपना रूप परिवर्तित करती हुई निरन्तर गतिशील रहती है। उसकी अविच्छिन धारा में कभी गतिरोध नहीं होता। जैसे नदी आस-पास के प्रदेश की मिट्टी, लताओं, वृक्षों आदि को साथ लेती हुई और आस-पास के प्रदेशों को सींचती हुई आगे बढ़ती जाती है वैसे ही भाषा भी अपने सम्पर्क में आने वाली विभिन्न भाषाओं के शब्दों को ग्रहण कर आत्मसात करती हुई आगे बढ़ती रहती है। जैसे हिन्दी भाषा है। उसके सम्पर्क में अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली आदि जो जो भाषायें आई हैं उसने उन सबके व्यावहारिक शब्दों को आत्मसात कर लिया है। इन भाषाओं के सैकड़ों शब्द

और हिन्दी ने भी अपनी प्रादेशिक बोलियों के भी सैकड़ों शब्द आत्मसात कर लिये हैं और अविच्छिन्न प्रवाह से प्रवाहमान हैं ।

7. भाषा मानव-जीवन से पोषित होती है – भाषा का आविष्कार मानव ने जीवन व्यवहार को चलाने के लिए किया है, इसलिए भाषा का मानव-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । संसार के सभी मानव-समाजों एवं वर्गों में कोई न कोई भाषा अथवा बोली प्रचलित है जिसके माध्यम से वे अपना-अपना जीवन व्यवहार चलाते हैं । इसलिए स्वाभाविक है कि भाषा का पोषण भी मानवीय जीवन से ही हो । वैसे तो कुछ पशु-पक्षी भी मानव की भाषा को समझते हैं और तोते मैना तो उसका उच्चारण भी कर लेते हैं । परन्तु वे भाषा के मर्म को नहीं समझते । मदारी द्वारा पोषित रीछ, बंदर बंदरिया, बकरा-बकरी आदि उसकी भाषा तो समझते हैं, परन्तु उसे बोल नहीं सकते । मैनाएँ और तोते बोल सकते हैं, परन्तु विचार विनिमय नहीं कर सकते और न ही भाषा के मर्म को जान सकते हैं । मानव ने जीवन को आवश्यकताओं के अनुसार भाषा का आविष्कार किया है, ध्वनियों के प्रतीकों के रूप में वर्णों का निर्माण किया है, ध्वनि चिह्नों के रूप में लिपि बनाई है। वह अपने जीवन के सारे क्रिया-कलापों को सुचारू रूप से चलाने के लिए भाषा का प्रयोग करता है । इसके अतिरिक्त वह भाषा को सुन्दर, समुन्नत, सुव्यवस्थित, पूर्ण एवं अर्थाभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाने का यत्न करता है। वह आवश्यकतानुसार उसका संक्षेपन एवं परिवर्धन करता है तथा उसके सर्वांगीण विकास के लिए कटिबद्ध रहता है । नये आविष्कृत पदार्थों के लिए नये शब्द रचता है । अतः यह कहना उपयुक्त ही है कि भाषा मानव-जीवन से पोषित और परिवर्धित होती है ।

8. भाषा भाव-सम्प्रेषण का सर्वश्रेष्ठ साधन है – भाषा के अभाव में मानवीय भावों का सम्प्रेषण यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है । यह स्पष्ट है कि भाव सम्प्रेषण के लिए जो संकेत शारीरिक अथवा अन्य अपनाये जाते हैं वे बहुधा अपूर्ण एवं असमर्थ सिद्ध होते हैं । यही नहीं, लिखित भाषा भी उच्चरित भाषा में विद्यमान ध्वनि के आरोहावरोह (परिवर्तन) को तथा काकु (ताना) आदि की भंगिमा द्वारा उत्पन्न प्रभाव को व्यक्त करने में असमर्थ

रहती है । इसलिए वैदिक भाषा का शुद्ध उच्चारण करने के लिए स्वर चिह्नों का प्रयोग किया जाता है । इसीलिए यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि संसार के आदि में मानव के पास भाषा विद्यमान थी, भले ही वह अत्यन्त अविकसित तथा सर्वथा अपरिमार्जित थी और उसमें पूर्णतया भावबोधन की एवं सूक्ष्म चिन्तन की क्षमता नहीं थी। मानव ने धीरे-धीरे विकसित किया और अर्थाभिव्यक्ति, भावाभिव्यक्ति तथा विचार-विनिमय के लिए सशक्त बनाया । उसके लिए ऐसा करना स्वाभाविक भी था, क्योंकि भाषा के अभाव में वह अपनी इच्छाओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं कर सकता था एवं न ही अपने जीवन-व्यापार को चला सकता था। अतः भाषा ही भाव-सम्प्रेषण का सर्वोत्कृष्ट साधन है ।

9. भाषा अपने में पूर्ण होती है – प्रत्येक भाषा अपने में पूर्ण होती है अर्थात् स्वतः पूर्ण होना प्रत्येक भाषा की विशेषता है। यहाँ पूर्णता से यह अभिप्राय नहीं है कि प्रत्येक भाषा प्रत्येक भाव को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है और उसमें प्रत्येक भाव को व्यक्त करने के लिए अनुरूप शब्द होते हैं । यहाँ भाषा की पूर्णतः से यह अभिप्राय हे कि प्रत्येक भाषा अपने समाज के भावों को व्यक्त करने में समर्थ होती है। अनेक मिशनरियों ने आदिवासियों तथा वन्य जातियों की भाषाओं का सर्वेक्षण करके उन्हें अपूर्ण बताया है, परन्तु उनकी मान्यता का आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों ने खण्डन किया है और उसे अवैज्ञानिक तथा असत्य बताया है । सत्य तो यह है कि प्रत्येक भाषा की शब्दावली उस भाषा के बोलने वालों के प्राकृतिक वातावरण के आधार पर बनती है । यही कारण है कि एस्कीमो भाषा में संस्कृत भाषा की अपेक्षा दर्शनशास्त्र का शब्दावली कम है क्योंकि एस्कीमो लोगों में दार्शनिक विचारों की कमी है । इसके विपरीत उनकी भाषा में अनेक प्रकार की बर्फों (हिमभेदों) के लिए अनेक शब्द उपलब्ध हैं जो संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा में भी नहीं मिलते । इससे ज्ञात होता हे कि उनके जीवन में दर्शन की अपेक्षा बर्फ का अधिक महत्त्व है जो वहाँ अत्यधिक मात्रा में पड़ती है ।

10. भाषा सार्वजनिक सम्पत्ति है – पीछे कहा जा चुका है कि भाषा सामाजिक वस्तु है जिसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है । किसी भी भाषा पर

किसी एक जाति, एक धर्म, एक परिवार अथवा एक सम्प्रदाय का अधिकार नहीं होता। उसका प्रचार एवं प्रसार एक समाज में रहने वाले विभिन्न जातियों, धर्मों, सम्प्रदायों और परिवारों के सभी व्यक्तियों में समान रूप से होता है। सभी उसका प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य समाजों, जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के व्यक्ति भी अपनी इच्छानुसार परिश्रम करके सीख सकते हैं। यदि एक देश के व्यक्ति दूसरे देश में जाकर रहने लगते हैं तो वे वहाँ की भाषा को सीख कर व्यवहार में लाने लगते हैं। जो लोग स्थायी रूप से दूसरे प्रान्त अथवा दूसरे देश में जाकर रहने लगते हैं उनकी सन्तानें पहले देश की भाषा भूल जाती हैं और दूसरे प्रान्त अथवा देश की भाषा को ही बोलती हैं। अतः कहा जा सकता है कि भाषा सार्वजनिक सामाजिक सम्पत्ति है, किसी को पैतृक सम्पत्ति नहीं है।

11. भाषा का व्यक्तित्व (आकार) स्वतन्त्र होता है – प्रत्येक भाषा का आकार अर्थात् बनावट का ढाँचा दूसरी भाषाओं के आकार से भिन्न होता है। और ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि वे अलग-अलग समाजों द्वारा निर्मित होती हैं। इसके अतिरिक्त विकास क्रम के अनुसार प्रत्येक भाषा के रूप और आकार में अन्तर भी आता रहता है। जैसे संस्कृत में तीन लिंग, तीन वचन और दस लकार हैं। इसके विपरीत हिन्दी में दो लिंग, दो वचन और तीन काल रह गये हैं। हिन्दी में भूतकाल के छः भेद हैं। परन्तु रूसी में केवल दो हैं। कुछ भाषाओं में संयुक्त ध्वनियाँ पायी जाती है और कुछ में नहीं। संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेज़ी, फ्रेंच आदि में संयुक्त ध्वनियाँ हैं, परन्तु जापानी आदि में नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक भाषा का आकार (व्यक्तित्व) कुछ न कुछ स्वतन्त्र रहता है।

12. भाषा की भौगोलिक सीमा रहती है – प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा रहती है यद्यपि विभिन्न परिस्थितियें के कारण वह घट अथवा बढ़ भी सकती है। भौगोलिक सीमाओं के कारण ही कभी-कभी भाषागत परिवर्तनों में अन्तर दिखाई देता है। जैसे एक कहावत है–

"चार कोस पर पानी बदले आठ कोस पर बानी।"

यह उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। बोली, भाषा, विभाषा आदि में अन्तर का कारण भी भौगोलिक सीमा ही होती है।

13. भाषा जटिलता से सरलता की ओर उन्मुख होती है – भाषा के क्रमिक विकास का अनुशीलन इस तथ्य का सूचक है भाषा जटिलता से सरलता की ओर उन्मुख रहती है। मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह कम से कम प्रयत्न में अधिक से अधिक बात कहनी चाहता है। इसीलिए स्वभावतः वह कम से कम ध्वनि-संकेतों द्वारा अधिक से अधिक भाव व्यक्त करना चाहता है। इसके अतिरिक्त उसकी यह भी प्रवृत्ति होती है कि वह सरल से सरल शब्दों का प्रयोग करे जिससे उसको बातों को सुनने वाला भली भाँति समझ सके। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह होता है कि भाषा जटिलता से सरलता की ओर उन्मुख हो जाती है, वह समासात्मकता को छोड़कर व्यासात्मकता की ओर प्रवृत्त होने लगती है। आज भाषा वैज्ञानिकों ने यह खोज निकाला हे कि संसार की सभी समस्त भाषाएँ व्यक्त हो रही हैं एवं अपनी जटिलता को छोड़कर सरलता एवं सुकुमारता को ग्रहण कर रही हैं। हिन्दी में इस मनोवृत्ति ने संस्कृत के अनेक जटिल रूपों को सरल बना दिया है। जैसे–स्वर्णकार से सुनार, लौहकार से लुहार आदि।

14. भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर – भाषा की सामान्य प्रवृत्ति संयोग से वियोग की ओर रहती है। प्रत्येक भाषा का रूप आरम्भ से संश्लिष्ट रहता है तथा उसकी ध्वनियाँ भी जटिल होती हैं। सूक्ष्म भावों को प्रकट करने के लिए उसमें अलग-अलग शब्द नहीं होते। जैसे चोरों की भाषा में हाथ धोने, सिर धोने और शरीर धोने के लिए शब्द तो हैं, किन्तु धोने की सामान्य क्रिया का द्योतक कोई स्वतन्त्र शब्द नहीं है। जैसे-जैसे भाषा का विकास होता है उसके अवयव अलग-अलग झलकने लगते हैं। संस्कृत भाषा के अहं गच्छामि प्रयोग से लेकर हिन्दी के मैं जाता हूँ प्रयोग तक विकास का यदि विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होगा कि हिन्दी भाषा के सत्व विश्लिष्टि हो गये हैं। यहाँ सहायक क्रिया का प्रयोग आवश्यक हो गया हैं अपनी विशेष स्थिति के कारण लिथुआनियन भाषा आज तक संयोगवस्था में है जबकि भारोपीय भाषाएँ अब संयोगावस्था को पार करती हुई वियोगावस्था में आ गई हैं।

15. भाषा में स्तर भेद होता है – मनुष्य अपने सामाजिक स्तर के

अनुसार भाषा का प्रयोग करता है ओर स्तर के कारण ध्वनियों, शब्द समूह में ही नहीं कभी व्याकरणिक ढाँचे पर भी प्रभाव पड़ता है । विशेषकर स्तर भेद पर शिक्षा-दीक्षा, व्यवसाय, आर्थिक-सामाजिक परिस्थिति आदि का प्रभाव पड़ता है । वैसे सांस्कृतिक कारण भी इसके मूल में होते हैं । वैज्ञानिकों की भाषा, वकीलों की भाषा, स्कूली लड़कों और अध्यापकों की भाषा, कुँजड़ों व रिक्शे वालों की भाषा, कवियों-दार्शनिकों की भाषा में इसी स्तर भेद के कारण अन्तर लक्षित होते हैं ।

कभी एक ही व्यक्ति की भाषा में ये स्तरीय भेद देखे जाते हैं जिसका मुख्य कारण मानसिक है । व्यक्ति कार्यालय में जिस भाषा का प्रयोग करता है उसका बाज़ार में प्रयोग नहीं करता और अपने परिवार में प्रयोग करते समय उसकी भाषा का स्वरूप बदल जाता है । भाषण देते समय उसके उच्चारण, शब्दावली आदि में पुनः परिवर्तन हो जाते हैं । पहले प्रकार का स्तर भेद यदि समस्तरीय कहा जाये तो दूसरे प्रकार के स्तर भेद को तलगामी कह सकते हैं ।

16. भाषा मुख्यतः उच्चरित साधन है, गौणातः लिखित साधन – भाषा के माध्यम से मनुष्य सर्वप्रथम मौखिक रूप से भावों का आदान-प्रदान करता है लिखित रूप तो उसे बाद में प्राप्त होता है । उच्चरित भाषा लिखित भाषा की अपेक्षा अधिक शक्ति सम्पन्न होती है क्योंकि ध्वनियों के उतार-चढ़ाव, विराम, ह्रस्व-दीर्घ उच्चारण द्वारा जो विचार किये जा सकते हैं वे लिखित भाषा द्वारा नहीं किये जा सकते । इसलिए उच्चरित भाषा अधिक महत्त्व रखती है । इसका महत्त्व एक दूसरे कारण से भी बढ़ जाता है । प्रायः भाषा में परिवर्तन सर्वप्रथम उसके उच्चरित रूप में ही हुआ करता है लिखित रूप तो इन परिवर्तनों का एक प्रकार से अनुकरण मात्र करता है । यदि लिखित रूप में बार-बार संशोधन न किया जाये तो उच्चरित रूप से उसका अन्तराल बढ़ता ही जायेगा । यही कारण है कि नवीन ध्वनियों के आगमन पर किसी भाषा के लिखित रूप में नये ध्वनि चिह्न पड़ते हैं । हिन्दी में अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी भाषाओं के सम्पर्क से अनेक नवीन ध्वनियाँ जैसे क़, ख़, ग़ ऑ आदि आ गई है जिनके शुद्ध उच्चारण के लिए नवीन ध्वनि चिह्न की आवश्यकता पर बारम्बार बल दिया जाता है । नवीन ध्वनियों का आगमन भाषा के उच्चरित रूप से ही होता है ।

3. भाषा के प्रमुख तत्त्वों का वर्णन करते हुए इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

अथवा

भाषा की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं? विस्तार से समझाइए।

उत्तर – **भाषा के तत्त्व –** भाषा विचार विनिमय का प्रधान ही नहीं बल्कि अनिवार्य साधन भी है। वह परस्पर वक्ता-श्रोता का सम्बन्ध स्थापित करके एक-दूसरे के विचारों को एक-दूसरे तक पहुँचाती है। भाषा मानव के उच्चारण अंगों से फूटने वाली ध्वनि है, जब यह ध्वनि सप्रयास और सप्रयोजन निकलती है, भाषा बन जाती है। मानव नाना प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, ताली बजाता है, मेज पर टक-टक ध्वनि उत्पन्न करता है, वाद्ययन्त्र से मधुर ध्वनि उत्पन्न करता है, पर वह भाषा नहीं, मात्र ध्वनि है। इसी प्रकार वह मुख से भी कई ध्वनियाँ उत्पन्न करता है, पर वे भाषा का रूप तभी ले सकती हैं, जब उनमें सार्थकता हो। भाषा का ध्वनि समूह सार्थक होता है, फिर भी उनका भावों-विचारों से सहज सम्बन्ध नहीं रहता क्योंकि यह सम्बन्ध ऐच्छिक ही होता है क्योंकि ध्वनि-समूह का अर्थ किसी तर्क, नियम अथवा कारण पर आधारित नहीं रहता वह मात्र संकल्पनात्मक अथवा रूढ़िगत ही होता है। उसके तीन रूप ये पाये जाते हैं–

1. भौतिक सम्बन्ध – जिस प्रकार धुआँ-अग्नि का सम्बन्ध है।

2. भावात्मक सम्बन्ध – गुरु-शिष्य सम्बन्ध।

3. यादृच्छिक सम्बन्ध (प्रतीक से निर्धारित) – जिस प्रकार बर्फ की संकल्पना शीतल होती है और रूढ़ि से इसका बोध हो जाता है। यदि ध्वनियों का अर्थ यादृच्छिक न रहता तो सभी भाषाएँ समान होतीं तब एक पदार्थ हेतु सभी भाषाओं में एक ही शब्द प्रयुक्त होता, पर ऐसा हैं नहीं। अतः यह सूचित है कि ध्वनि-समष्टि के अर्थ के साथ कोई तर्कसंगत सम्बन्ध नहीं है। यह भी माना जाता है कि ये प्रतीक भाषा के नहीं होते, अपितु मानसिक संकल्पना (भाषिक प्रत्यय आदि के होते हैं) जैसे–लड़की, घोरी, मौडी, बुडी आदि मानसिक संकल्पना के द्योतक हैं।

भाषा एक व्यवस्था – यह मान लिया गया है कि भाषा एक व्यवस्था है, जिसके कारण कला द्वारा कही गयी कोई बात श्रोता, उसी रूप में ग्रहण कर लेता है, जिस रूप में वक्ता, उसकी समझना चाहता है । यदि यह व्यवस्था न होती, तो प्रयोग में एकरूपता न रहती, स्वच्छन्दता समाहित हो जाती, भाव-बोध सहज नहीं रहता । भाषा का मूल उद्देश्य है विचारविनिमय । वही खण्डित हो जाता है ।

भाषा व्यवस्था के रूप – भाषा व्यवस्था के दो रूप हैं–

(1) **आन्तरिक**–ये हैं ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य तथा अर्थ आदि से जुड़ी व्यवस्था ।

(2) **बाह्य** – यह है 'प्रतीक' जो शब्द विशेष पर आधारित है । जैसे कलम 'शब्द' उच्चारित होते ही, मस्तिष्क में दूसरे परम्परागत प्रतीक की रम देता है लिखने वाला साधन । यह पूछा जा सकता है कि इसको कलम ही क्यों कहा जाता है, इसका उत्तर व्युत्पत्तिशास्त्र भले ही दे सके, सामान्य व्यक्ति द्वारा सहज सम्भव नहीं है ।

(3) यह भी देखा जाता है कि भाषा का रूप थोड़ा-बहुत बदलता रहता है क्योंकि भाषा का प्रयोग समाज में होता है । इस कारण 'कुजड़ी की भाषा' ,'व्यापारियों को भाषा' , 'शिक्षित व्यक्तियों की भाषा' आदि में थोड़ा-बहुत अन्तर पाया जाता है ।

(4) भाषा का एक विलक्षण रूप है–रूप भेद । क्योंकि भाषा व्यक्ति के व्यक्तित्व, उसके बौद्धिक और सामाजिक स्तर पर भी निर्भर करती है । इसकी योग्यता शालीनता, दुर्जनता, उसकी भाषा में झलक जाती है ।

(5) भाषा का तात्पर्य मानव भाषा से ही है, जो मानव-समाज में परस्पर विचारों के आदानप्रदान में प्रयोग की जाती है । ये भी कह सकते हैं, भाषा परस्पर व्यवहार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं सुनिश्चित साधन है ।

(6) भाषा के विचारों–भावों से अभिव्यक्ति के दो साधन हैं–मौखिक और लिखित ।

भाषा की प्रमुख विशेषताएँ

1. यादृच्छिकता – भाषा में कोई भी पदार्थ अथवा भाव किसी भी शब्द से सहज तर्कपूर्ण सम्बन्ध नहीं रखता । समाज ने अपनी स्वेच्छा के आधार पर किसी भी पदार्थ के लिए एक शब्द निर्धारित कर दिया है और यही निर्धारण पदार्थ और शब्द का नित्य सम्बन्ध बन गया है । यह यादृच्छिकता शब्द के स्तर पर ही नहीं, अपितु व्याकरण के स्तर पर भी पायी जाती है । यही रूप रचना और वाक्य रचना में भी पायी जाती है, यदि हिन्दी अंग्रेज़ी के वाक्यों की रचना पर विचार किया जाये तो यह स्थिति स्पष्ट हो सकेगी । जैसे वह स्कूल जा रहा है ।

हिन्दी में कर्ता, कर्म, क्रिया का विन्यास पाया जाता है, जबकि अंग्रेज़ी में कर्ता, क्रिया, कर्म का विन्यास ।

संस्कृत में तो क्रम का बन्धन है ही नहीं, साथ ही यह क्रम विन्यास ऐसा क्यों हैं, इस पर व्याकरण मौन है । अतः एक ही बात मानी जा सकती है–यादृच्छिकता–वह भी स्वेच्छा से निर्धारित ।

2. सृजनात्मकता – भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है सृजनात्मकता । (सृजन क्षमता) भाषा में रूप शब्द प्रचलित है, फिर भी सादृश्य के आधार पर भाषा में नवीन शब्दों की रचना असीम सम्भावना बनी रहती है और ऐसा होता भी रहता है । साथ ही नव-सृजित शब्द अथवा वाक्य को समझने में श्रोता को किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती है । भाषा या सृजनात्मकता भी भाषा समृद्ध बनाती है ।

3. अनुकरण बाध्यता – भाषा परिवार से ही सीखी जाती है, बच्चा अनुकरण पद्धति पर ही भाषा सीखता है । इसी कारण भाषा को सामाजिक सम्पत्ति भी माना गया है । अनुकरण के माध्यम से ही बच्चा भाषा को सहज रूप में सीख लेता है । यही अनुकरण क्षमता अन्य भाषाओं को सीखने में भी सहायक होती है ।

4. परिवर्तनशीलता – वह गुण भी मानव भाषा में ही पाया जाता है वह निरन्तर परिवर्तित होती रहती है, यह बात दूसरी है कि परिवर्तन का रूप काफी समय बाद स्पष्ट होता है, पर यह परिवर्तन चक्र रुकता नहीं है, सतत्

गतिशील बना रहता है। भारतीय भाषा की यह परिवर्तनशीलता बराबर लक्षित होती है– वैदिक संस्कृत–संस्कृत, अपभ्रंश, अवहट्ठ, फिर लोकभाषा आदि इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं। इसी प्रकार संस्कृति में जो भद्र या प्राकृत में भन्ते बन गया और लोकभाषा में भद्दा बनकर प्रयुक्त हो रहा है। मात्र रूप ही नहीं, अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है, जैसा यहाँ देखा जा सकता है।

5. द्वैतता – मानव भाषा में 'रुपिम' और 'स्वनिम' दोनों एक साथ रहते हैं। जबकि 'अपिम' सार्थक इकाइयाँ हैं और 'स्वनिम' निरर्थक पर ये अर्थ-भेदक तथा सार्थक इकाइयों का निर्माण करने वाली ध्वनियाँ हैं। जैसे–'राम ने लंका पर विजय प्राप्त की' यहाँ 'राम' के पाँच सार्थक रूपिम हैं– र + आ + म् + अ। इनका अपना कोई अर्थ नहीं है, पर जब ये परस्पर मिल जाती हैं–सार्थक इकाई का निर्माण कर देती हैं और देखिये–क-घ वास्तव में निरर्थक ध्वनियाँ हैं, पर इनके माध्यम से 'क्रीडा', 'घोड़ा' आदि शब्द बन जाते हैं और सार्थक इकाई का निर्माण हो जाता है।

6. विविक्तता – मानव भाषा की महत्ता वाक्य रचना में ही है। शब्द अपने में सार्थक होता है, पर शब्दों के समूह का आशय वाक्य रचना पर ही आधारित। जैसे राम बेटा मोहन का गंगा नहाया थे। ये सारे शब्द सार्थक हैं, पर वांछित भाव की प्रतीति तभी सम्भव है जब इनको वाक्य में पिरो दिया जाये।

मोहन का बेटा राम गंगा में नहाया।

अर्थात् ध्वनि रूप आदि का जब अविच्छिन सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तभी उसमें सार्थकता और भाव सम्प्रेषणीयता समाहित हो सकती है, यह भी स्मरणीय हे कि यह विविक्तता मानवीय भाषा का ही गुण है, पशु-पक्षी की भाषा में यह स्थिति नहीं पायी जाती है, उनकी ध्वनियों का विखण्डन सम्भव नहीं हैं

7. भूमिका परिवर्तन – यह भी एक विशेषता है–दो व्यक्ति जब परस्पर बात कर रहे हैं तो 'A' बोल रहा है 'B' सुन रहा है–यहाँ 'A' वक्ता और 'B' श्रोता है, तभी 'B' ने बोलना प्रारम्भ किया और 'A' ने सुनना-श्रोता, वक्ता

बदल गये—यही भूमिका परिवर्तन है ।

8. दिक्-काल, अन्तरण – यह भाषा (मानव) स्थान-विशेष तथा समय-विशेष तक सीमित नहीं रहती है । आगरा मे बैठा व्यक्ति मुम्बई की घटना पर चर्चा कर सकता है, यही व्यक्ति मुम्बई में जाकर उत्तर प्रदेश पर बात कर सकता है । साथ ही आज बात करने के असीमित क्षेत्र हैं—विगत घटनाओं पर चर्चायें होती हैं, नाना विषयों पर चर्चायें होती हैं । अतः भाषा को स्थान और समय की सीमाओं में नहीं समेटा जा सकता है ।

9. द्वि-मार्गता – यह दो प्रकार से प्रयोग में आती है—उच्चारण, श्रवण । मौखिक ही नहीं लिखित भाषा भी दो रूप रखती है—लिखित और पठित ।

10. असहज वृत्तिकता – पशु-पक्षी सहज वृत्तियों, क्षुधा, प्यास, वासना आदि पूर्ति हेतु कुछ ध्वनियाँ निकालते हैं, पर मानव वैसा नहीं करता । मान लिया जाए इन वृत्तियों हेतु अगर वह कुछ ध्वनियाँ निकालता भी है तो वह भाषा नहीं मानी जा सकती । यह स्पष्ट है कि मानवीय सहज-वृत्तियों की अभिव्यक्ति से भाषा का कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः उसको असहज-वृत्ति का माना जाता हैं

11. स्वतः पूर्णता – मानव भाषा में ऐसी सामर्थ्य है कि वह समस्त, सूक्ष्मतर भावों की सहज अभिव्यक्ति में पूर्ण सक्षम है । इसका कारण उसकी शब्दावली—जिसका निर्माण समाज की आवश्यकता के अनुसार होता है, अंग्रेजी में 'Lane' शब्द है, जबकि हमारे यहाँ प्रेम, स्नेह, ममता, वात्सल्य आदि कई शब्द हैं । संस्कृत की दार्शनिक शब्दावली की बहुलता है, अंग्रेज़ी में वैज्ञानिक शब्दावली की, समाज विशेष की प्रत्येक भावना विचार की अभिव्यक्ति की क्षमता भाषा में पायी जाती है—यही इसकी स्वतः पूर्णता है ।

12. निजी वैयक्तिकता – वह भी देखा गया है कि मानव भाषा स्थान पर समय के आधार पर अलग व्यक्तित्व (रूपाकार) लिए रहती है । भाषा की यह निजी वैयक्तिकता भी एक भाषा से दूसरी भाषा को अलग कर देती है ।

13. सतत् प्रवहणशीलता – भाषा परिवर्तनशील है, फिर भी उसका प्रवाह अविच्छिन और नैसर्गिक है । नदी भी टेढ़े-मेढ़े भागों से होती हुई आगे

बढ़ती ही चली जाती है । उसी प्रकार भाषा भी अपना रूप बदलती हुई सतत गतिमान रहती है । उसके प्रवाह में कभी कोई गतिरोध नहीं आता, न उसकी धारा कभी विच्छिन ही होती है, प्रवाह रुकना तो भाषा की मौत ही है ।

14. सारल्योन्मुखता – भाषा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता जटिलता से सरलता की ओर जाना भी है, यदि हम भाषा के विकास पर दृष्ट डालें तो यह तथ्य स्पष्ट भी हो सकेगा । मानव की प्रवृत्ति है, कम प्रयत्न से अधिक करना, साथ ही वह यह भी चाहता है कि उसके कथन को श्रोता, भली प्रकार समझ सकें और सहज में समझ सकें–इस कारण वह अपने कथन का सुबोध बताते हुए सरल शब्दावली का ही प्रयोग करता है । परिणामतः भाषा संश्लिष्टता अथवा संयोगात्मकता से विश्लिष्टता अथवा वियोगात्मकता की ओर, समासात्मकता से व्यासात्मकता की ओर तथा जटिलता अथवा क्लिष्टता से सरलता की ओर उन्मुख होती है, स्वर्णकाल से सुनार, बन्द्योपध्याय से बनर्जी, कर्पदिका से कौड़ी इसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं ।

15. उपार्जित सामाजिक सम्पदा – भाषा उत्पन्न समाज में होती है, पनपती भी समाज में है, उसका पूर्ण विकास भी समाज में ही होता है । अतः हर दृष्टि से उसका समाज से अनिवार्य सम्बन्ध है, माता ने समाज से भाषा पायी, उसने अपनी सन्तान को दे दी पर शिशु को यह अर्जित करनी पड़ती है । भले ही यह मातृ-भाषा के रूप में उसको प्राप्त होती है, फिर भी उसको इसका अर्जन करना पड़ता है क्योंकि बिना प्रयत्न के भाषा पर अधिकार करना सहज नहीं होता है ।

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ भाषा में विद्यमान रहती हैं, परन्तु ये सभी विशेषताएँ मात्र मानव की भाषा में ही पाई जाती हैं ।

4. भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ।

अथवा

भाषा की उत्पत्ति या उदय का उल्लेख कीजिए ।

उत्तर – भाषा की उत्पत्ति या उदय का सम्बन्ध मनुष्य की बोल पाने की शक्ति से न होकर इस बात से है कि मनुष्य ने अपने द्वारा उच्चारित ध्वनियों

का सम्बन्ध विभिन्न वस्तुओं से सर्वप्रथम कब स्थापित किया क्योंकि मनुष्य द्वारा भाषा की उत्पत्ति उसी रूप में सम्भावित है, अन्यथा अन्य पशु-पक्षियों की भाँति केवल ध्वनि उत्पन्न करने की शक्ति तो उसमें भी जन्म से ही रही होगी । वास्तव में देखा जाये तो भाषा की उत्पत्ति का विचार हो भाषाविज्ञान के विषय क्षेत्र में अन्तर्गत नहीं आता है क्योंकि किसी भी विज्ञान की भाँति भाषाविज्ञान का कार्य भी प्रस्तुत सामग्री का विवेचन-विश्लेषण ही होता है, उसका कार्य केवल प्रस्तुत या प्रत्यक्ष विषय-वस्तु पर विचार करना ही है, जबकि भाषा की उत्पत्ति-सम्बन्धी जितने भी विचार आज तक व्यक्त किये गये हैं, वे सभी अनुमान पर ही आधारित हैं । अनुमान पर आधारित विचार सीधे दर्शन स सम्बन्ध रखते हैं किसी विज्ञान से नहीं । अतः भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न भी सीधे दर्शन मानव-विज्ञान का समाज विज्ञान से जुड़ा हुआ है, भाषाविज्ञान से नहीं । यही कारण है कि आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व सन् 1866 में ही पेरिस (फ्रांस) में स्थापित भाषा विज्ञान समिति ने अपने विधान में यह स्पष्ट व्यवस्था कर दी थी कि इस समिति के तत्त्वावधान में भाषा की उत्पत्ति पर विचार नहीं किया जा सकता । इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति पर विचार करना आजकल भाषाविज्ञानका विषय नहीं माना जाता, तथापि इस सम्बन्ध में मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासावृत्तिवश जो विचार व्यक्त किये गये हैं, उनके ऐतिहासिक महत्त्व के कारण यहाँ प्रस्तुत किया जा सकता है ।

भाषा की उत्पत्ति पर विचार हेतु विद्वानों ने दो मार्गों का आश्रय लिया है—प्रत्यक्ष मार्ग तथा परोक्ष मार्ग । प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की आदिम अवस्था से चलकर उसकी आज तक की विकसित स्थिति का विचार किया जाता है तथा परोक्ष मार्ग में भाषा की आज की विकसित अवस्था से पीछे की ओर चलते हुए भाषा की आदिम अवस्था पर विचार किया जाता है ।

भाषा की उत्पत्ति का परोक्ष मार्ग – आजकल विकास की तीव्र गति को देखते हुए भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में परोक्ष मार्ग की चर्चा करना व्यर्थ है क्योंकि परोक्ष मार्ग में बच्चों की भाषा, आदिम जातियों की भाषा या आधुनिक भाषाओं का इतिहास आदि जिसे भी विचार-सामग्री के रूप में अपनाया जाता है, उसे भाषा की उत्पत्ति का अनुपात करना आज

व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है । आज के बच्चे भाषा को जिस तीव्र गति से सीखते हैं या आज की तथाकथित आदिम जातियों की भाषाएँ विकास के जितने पार कर चुकी हैं या आज की भाषाओं का इतिहास जिस तीव्र गतिसे विकसित हो रहा है, उनकी वही अवस्था भाषा की आदि उत्पत्ति के समय नहीं रही होगी । अतः जिन विद्वानों ने भाषा की उत्पत्ति के समाधान हेतु परोक्ष मार्ग की चर्चा अपने ग्रंथों में की है, वह केवल परम्परा का निर्वाह मात्र ही है ।

भाषा की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष मार्ग – प्रत्यक्ष मार्ग में भाषा की उत्पत्ति तथा विकास से संबंधित अधोलिखित सिद्धान्तों का उल्लेख प्रमुख रूप से किया जाता है–

1. दैवी सिद्धान्त – इसके अनुसार भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई है । अर्थात् ईश्वर ने जब मनुष्य की सृष्टि की थी, तभी उसे पूर्णतया विकसित भाषा भी उसने प्रदान कर दी थी । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक धर्म वालों के द्वारा अपनी भाषा को ही आदिम भाषा स्वीकार किया जाता है अर्थात् वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार वैदिक या संस्कृत को, बौद्धों के अनुसार पालि को, जैनियों के अनुसार अर्धमागधी को, सिक्खों के अनुसार पंजाबी को, ईसाइयों के अनुसार हिब्रू या ईब्रानी को तथा मुसलमानों के अनुसार अरबी को ही, जो उन-उन के धार्मिक ग्रन्थों की भाषा है, आदिम भाषा माना जाता है तथा उसी से विश्व की अन्य भाषाओं का विकास स्वीकार किया जाता है ।

उपर्युक्त भावना से, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रायः सभी धर्मों के धार्मिक ग्रंथों में पाया जाता है । जैसे वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार 'ऋग्वेद' में कहा गया है–

''देवीं वाचमजनयन्त देवाः तां विश्वरूपाः पशवी वदन्ति ।''

ऋ. 8.100.11

देवों ने वाणी (वाक् भाषा) को उत्पन्न किया तथा सब प्राणी उस (ही) को बोलते हैं ।

इसी प्रकार महावैयाकरण पाणिनि की अष्टाध्यायी के आधारभूत 14

प्रत्याहार सूत्रों को भी माहेश्वर सूत्र अर्थात् शिवजी द्वारा उत्पन्न किया गया माना जाता है। अतः वैदिक धर्मावलम्बियों के अनुसार संस्कृत, जिसे देववाणी या अमरवाणी भी कहा जाता है, ही वह आदिम भाषा सिद्ध होती है। जिसे ईश्वर ने सर्वप्रथम उत्पन्न किया था तथा जिससे विश्व की अन्य भाषायें विकसित हुई हैं। इसी प्रकार के वाक्य प्रायः सभी धर्मावलम्बी अपनी भाषा को दैवी सिद्ध करने के लिए अपने-अपने धर्म ग्रंथों से प्रमाण उद्धृत करते हैं।

समीक्षा – भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त श्रद्धा पर आधारित है तथा मात्र श्रद्धालुओं के लिए ही सन्तोषावह है। विज्ञान तथा तर्क से सम्मत न होने के फलस्वरूप आज यह नितान्त अमान्य है। इसके खण्डन के लिए निम्न तर्क दिये जाते हैं–

(1) प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् हर्डर के शब्दों में, यदि भाषा की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा होती, तो उसमें कहीं अधिक पूर्णता, व्यवस्था तथा बुद्धिसंगतता होती। उस दशा में भाषा असंगतियों, अनियमितताओं तथा अपवादों से पूर्णतया रहित होती।

(2) अन्य पशुओं के समान ही संसार के सभी मनुष्य भी एक-सी ही भाषा बोलते। अतः समाजभेद, जातिभेद से मनुष्यों की भाषा में भेद नहीं होता।

(3) प्रत्येक मानव-शिशु जन्म से ही भाषा को प्राप्त कर लेता, उसे समाज से भाषा को सीखना न पड़ता।

(4) यदि भाषा ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती तो उसमें परिवर्तन , संशोधन की जरूरत न पड़ती, किन्तु भाषा का रूप सदैव बदलता रहता है। आवश्यकतानुसार उसमें नये-नये शब्द प्रवेश करते रहते हैं और अनावश्यक शब्द व्यवहार से बाहर हो जाते हैं।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि भाषा की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त तर्कसंगत नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मनुष्यमात्र में भाषणशक्ति की उत्पत्ति को निश्चय ही दैवी स्वीकार किया जाना चाहिए ।

2. संकेत सिद्धान्त – इसे निर्णय सिद्धान्त भी कहा जाता है । इसके सर्वप्रथम प्रतिपादक फ्रांसीसी विचारक रूसो हैं । संकेत सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव अपने मनोभावों को आंगिक संकेतों के द्वारा व्यक्त करता था, पर बाद में कठिनाई उपस्थित होने पर सामाजिक समझौते के आधार पर उसने विभिन्न भावों, विचारों तथा पदार्थों के लिए विभिन्न ध्वन्यात्मक संकेत निश्चित कर दिए । यह कार्य सभी मनुष्यों ने किसी स्थान पर एकत्र होकर पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा किया । इस प्रकार सामाजिक पृष्ठभूमि में सांकेतिक संस्थान द्वारा भाषा की उत्पत्ति हुई । इस सिद्धान्त पर आगे चलकर रिचर्ड, रॉव तथा जोहान्सन आदि विद्धानों ने इंगित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो संकेत-सिद्धान्त की अपेक्षा कुद अधिक परिष्कृत होते हुए भी लगभग इसी मान्यता को व्यक्त करता है ।

संकेत-सिद्धान्त के खण्डन के लिए निम्नलिखित तर्क दिए जाते हैं–

(1) यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि इससे पूर्व मानव को भाषा की प्राप्ति नहीं हुई थी । यदि ऐसा है, तो अन्य भाषाहीन प्राणियों के समान मनुष्य को भी भाषा की आवश्यकता अनुभव नहीं होनी चाहिए थी ।

(2) यदि भाषा का अभाव था, तो कि मनुष्यों को कैसे एकत्रित किया गया तथा भाषा के अभाव से विचार विमर्श किस प्रकार सम्भव हुआ ।

(3) विभिन्न पदार्थों के संकेतवाचक शब्द कहाँ से प्राप्त हुए तथा उनके विषय में निर्णय कैसे हुआ ।

(4) जिन वस्तुओं के संकेत निश्चित किये गये, उन्हें एक स्थान पर कैसे इकट्ठा किया गया ।

(5) यदि भाषा के अभाव में इतना बड़ा तथा महत्त्वपूर्ण विचारशील कार्य हो सकता है, तो फिर भाषा की आवश्यकता ही किसलिए पड़ी ।

संकेत सिद्धान्त भी भाषा की उत्पत्ति के समाधान के लिए उपयुक्त नहीं माना गया क्योंकि एक तो यह नितान्त काल्पनिक है, दूसरे इसमें भी भाषा की उत्पत्ति कृत्रिम उपायों द्वारा स्वीकार की गयी है ।

3. धातु सिद्धान्त या अनुरणन सिद्धान्त – इसके मूल प्रवर्तक महान् विचारक प्लेटो थे । बाद में जर्मन विद्वान् हैज तथा उनके भी बाद मैक्समूलर ने इसे व्यवस्थित रूप दिया । इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा मानव की स्वाभाविक प्रतिभा की देन है । अनुभव से हम यह जानते हैं कि चोट करने पर लोहा, लकड़ी, पत्थर आदि पदार्थों से भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं । प्रारम्भिक मानव में भी ऐसी सहज शक्ति थी कि जब वह किसी बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आता था, तो उसमें उत्पन्न ध्वनियों (अनुरणन) की छाप उस पर पड़ती थी । उन ध्वनियों का अनुकरण करते हुए उसने कुछ मूल-धातुओं (मूल शब्दों) का निर्माण कर लिया । जब कुछ कामचलाऊ धातु बन गये और इस प्रकार व्यक्ति को भाषा प्राप्त हो गयी, तो उसकी वह नये नये धातु बनाने वाली सहज शक्ति नष्ट हो गयी । तत्पश्चात् वह उन्हीं मूल धातुओं से नये-नये शब्द बनाकर काम चलाने लगा । इस सिद्धान्त की अर्थहीनता का स्पष्ट प्रमाण यही है कि बाद में स्वयं मैक्समूलर ने ही इसका परित्याग कर दिया था । इसके खण्डन में निम्न बातें उल्लेखनीय हैं–

(1) इस सिद्धान्त के अनुसार आदिम मानव में नये-नये धातु बनाने वाली जिस सहज शक्ति की कल्पना की गयी है, उसमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि ऐसी कोई शक्ति थी, तो बाद में वह नष्ट क्यों हो गयी ।

(2) वह सिद्धान्त शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध मानकर चलता है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है ।

(3) इस सिद्धान्त के अनुसार सभी भाषाएं धातुओं से बनी हैं । किन्तु चीनी आदि कुछ भाषाओं के विषय में यह बात सच नहीं है ।

(4) आज भाषाओं के वैज्ञानिक विवेचन से यह सिद्ध हो चुका है कि धातु या प्रातिपादिक या मूल शब्दों की कल्पना भाषाओं के बाद

में होने वाले व्याकरण सम्बन्धी विवेचन का परिणाम है ।

(5) यह सिद्धान्त भाषा को पूर्ण मानता है जबकि भाषा अपूर्ण है ।

(6) आधुनिक मान्यता के अनुसार भाषा का आरम्भ धातुओं से बने शब्दों से नहीं, बल्कि पूर्ण विचार वाले वाक्यों से ही हुआ है ।

इस प्रकार हम सिद्धान्त के द्वारा भी भाषा की उत्पत्ति के प्रश्न का कोई समाधान नहीं हो सका। पहले सिद्धान्तों की भाँति ही यह भी नितान्त अवैज्ञानिक है ।

4. अनुकरण सिद्धान्त – ह्विटनी, पॉल, हर्डर आदि विद्वान् इस सिद्धान्त को मानने वालों में प्रमुख हैं । मैक्समूलर ने इस सिद्धान्त पर व्यंग्य करने के लिए ही इसे वाऊ-वाऊ सिद्धान्त कहा था, जो कुत्ते की बोली का सूचक है । वैसे अंग्रेज़ी में इसके लिए ऑनमाटोपोयक (onomotopoeic) या इकोइक (Echoic) शब्द प्रचलित है । हिन्दी में इसे अनुकरणमूलकतावाद भी कहा जाता है । जिस प्रकार अनुरणन सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य ने जड़ पदार्थों से उत्पन्न व्यक्तियों का अनुकरण किया, उसी तरह अनुकरण सिद्धान्त में यह माना जाता है कि मनुष्य ने जड़-चेतन सभी पदार्थों की ध्वनियों का अनुकरण करते हुए पहले कुछ शब्द बना लिये और फिर उन्हीं शब्दों से अन्य शब्द बनाते हुए भाषा का विकास कर लिया । मनुष्य ने जिस पदार्थ अथवा प्राणी की जैसी ध्वनि सुनी, उसी का अनुकरण करते हुए उसने उसी ध्वनि के आधार पर उस-उस वस्तु या प्राणी का नामकरण कर दिया । उदाहरण के लिए भाषा में काक, कोकिल, भौं-भौं, म्याऊँ, दर्दुर, निर्झर, मर्मर, तड़तड़, भर्भर, मिमियाना, गरजना, दहाड़ना, टपकना, चहचहाना, हिनहिनाना आदि अनेक शब्द इसी प्रकार के हैं ।

इस सिद्धान्त का खण्डन विभिन्न विद्वानों ने इस प्रकार किया है–

(1) प्रसिद्ध विद्वान रेनन ने इस सिद्धान्त का खण्डन इसलिये किया है, क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनियों का उत्पादन करने में मनुष्य पशु-पक्षियों से भी निकृष्ट सिद्ध होता है ।

(2) प्रत्येक भाषा में कुछ शब्द अनुकरणमूलक होते हुए भी उनकी संख्या इतनी कम है कि उनसे किसी भाषा का निर्माण होना

असम्भव ही है। उत्तरी अमेरिका की एक भाषा अथवस्कन में तो एक शब्द भी अनुकरणमूलक नहीं है।

(3) अनुकरणमूलक शब्द सभी भाषाओं के समान रूप वाले नहीं हैं, जबकि ध्वनि के अनुकरण पर बनने के कारण इन्हें समान ही होना चाहिए था। कुछ विद्वानों ने इसका कारण विभिन्न भाषाओं में ध्वनियों की विभिन्नता माना है, जो स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये ध्वनियाँ भी तो इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकरण का ही परिणाम है। अनुकरण की अपूर्णता को इसमें कुछ अंशों में कारण माना जा सकता है।

(4) अनुकरण पर बने शब्द किसी भाषा का केवल अलंकार बन सकते हैं, आधार नहीं हैं।

ऑटो जेस्पर्सन ने इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए कहा है कि अनुकरणमूलक शब्दों से भाषा में एक शब्दों का विकास हुआ है और हो सकता है, परन्तु इस सिद्धान्त से भाषा की उत्पत्ति का आंशिक समाधान ही हो सकता है पूर्ण नहीं।

5. आवेग सिद्धान्त – हिन्दी में इसे मनोरागाभि व्यंजनक शब्द मूलकतावाद या मनोभावाभिव्यंजकतावाद भी कहा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदिकाल का भावुक मनुष्य भावावेश या भावावेग में हर्ष, शोक, क्रोध, विस्मय, घृणा आदि की व्यंजक जिन ओह, आह, हाय, ओफ, धिक्, छिः, पूह, पिश, फाइ आदि ध्वनियों को उत्पन्न करता था, आगे चलकर उन्हीं से भाषा का विकास हुआ है। जैसे कि धिक् से धिक्का, धिक्कारना, धिक्-धिक् करना आदि अनेक शब्द जिस प्रकार से बन गये, उसी प्रकार अन्य शब्दों से भी अनेक शब्द बन गए होंगे। इस सिद्धान्त की प्रमुख त्रुटियाँ निम्नलिखित है–

(1) इस प्रकार की ध्वनियाँ या शब्द भाषा के मुख्य अंग नहीं है। उनका प्रयोग वाक्य में न होकर वाक्य के प्रारम्भ में भिन्न रूप में होता है।

(2) इस प्रकार के शब्द भाषा की असमर्थता को प्रकट करते हैं, फिर वे स्वयं भाषा कैसे बन सकते हैं। बेनफी ने इसी आधार पर इस सिद्धान्त का खण्डन किया है।

(3) इनका प्रयोग सोच-विचार कर किसी भाव को व्यक्त करने के लिए नहीं किया जाता । ये तो आवेगवश स्वतः ही मुख से निकल पड़ते हैं ।

(4) इस प्रकार के शब्दों की संख्या किसी भी भाषा में बहुत कम होती है ।

(5) ये शब्द किसी भी भाषा में एक जैसे नहीं मिलते हैं, जैसे पीड़ा को व्यक्त करने के लिए अंग्रेज़ ओह, जर्मन आउ फ्रांसीसी आहि जैसे भिन्न-भिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं ।

इस सिद्धान्त से भी भाषा के उन बहुत थोड़े-से शब्दों का ही समाधान ही पाता है जिनका भाषा में कोई महत्व नहीं है तथा जिनसे भाषा के अन्य शब्दों को बनाने में कुछ भी विशेष सहायता नहीं मिलती । कुछ भावों की व्यंजक ध्वनियों को तो लिपिबद्ध करना भी कठिन हो जाता है ।

6. श्रम-ध्वनि सिद्धान्त – हिन्दी में इसे श्रमपरिहरण मूलकतावाद भी कहा जाता है । न्यारे नामक प्रसिद्ध विद्वान् इस सिद्धान्त के प्रतिपादक है । इस सिद्धान्त के अनुसार जब व्यक्ति श्रम करता है, तो उसके श्वास की गति तीव्र हो जाती है और अधिक तीव्रता के कारण स्वरतन्त्रियों में कम्पन्न उत्पन्न हो जाता है, फलस्वरूप कुछ ध्वनियाँ स्वाभाविक रूप से मुँह से निकल पड़ती हैं । धोबियों की हियो-हियो या छियो-छियो, मल्लाहों की हैया-हैया, मजदूरों या हथौड़ा चलाने वालों की हूँ-हूँ आदि ध्वनियों इस प्रकार की हैं । आदिम मानव सामूहिक श्रम करने के कारण इस प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न करता था, जो उन-उन कार्यों की द्योतक बन गयीं । बाद में उनसे ही भाषा का विकास हुआ है । अंग्रेज़ी की यो हे हो ध्वनि जेसी ही किसी ध्वनि से हीव और हॉल जैसी क्रियाएँ बनी हैं । इस सिद्धान्त के प्रमुख दोष इस प्रकार हैं–

(1) इस सिद्धान्त द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ निरर्थक ही हैं । इसलिए निरर्थक शब्दों से सार्थक भाषा की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती ।

(2) ये ध्वनियाँ केवल शारीरिक श्रम की प्रतिक्रिया को व्यक्त करती हैं ।

(3) इससे भाषा के बहुत ही थोड़े शब्दों का समाधान हो पाता है ।

श्रमध्वनि-सिद्धान्त से भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का कोई समाधान नहीं होता । भाषा के विशाल शब्द-कोश में ऐसे शब्दों की संख्या अत्यल्प ही है और वे शब्द भी वस्तुतः भाषा के अंग नहीं हैं । प्रसिद्ध समाजशास्त्री अंग्रेज़ वकील ए. एस. डायमण्ड को एक प्राचीन भाषा और मैं मैं एक भी शब्द ऐसा नहीं मिला जो श्रम-सिद्धान्त पर आधारित हो ।

7. इंगित सिद्धान्त – डॉ. राये, रिचर्ड तथा जोहान्सन इसके प्रतिपादक हैं । इस मत के अनुसार आदि मानव ने स्वयं अपने ही अंगों से होने वाली चेष्टाओं या ध्वनियों का वाणी द्वारा अनुकरण किया तथा इस प्रकार भाषा बन गयी । जैसे जब मनुष्य पानी पीता था तो ओठों को पास लाकर अन्दर को श्वास खींचने में पा-पा जैसी ध्वनि होती थी । उसी से पानी, पीना, पिपासा आदि शब्दों का विकास हुआ ।

यह सिद्धान्त भी सारहीन है, क्योंकि मानव द्वारा अपनी ही चेष्टाओं या ध्वनियों का अनुकरण कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है ।

8. सम्पर्क सिद्धान्त – विख्यात विद्वान् जी. रेवेज इसके प्रतिपादक हैं । इन्होंने मनोविज्ञान के आधार पर यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया है । आदिम मानव जब अपने दूसरे साथी मनुष्यों के तथा अपने चारों ओर के विस्तृत वातावरण के सम्पर्क में आया, तभी इस सम्पर्क के कारण भाषा उत्पन्न हुई । रेवेज ने अपने सिद्धान्त में क्रियात्मकता को विशेष महत्व दिया है । उसके अनुसार सम्पर्क के कारण मनुष्य सक्रिय हुआ होगा तथा सक्रियता के कारण ध्वनियाँ उत्पन्न हुई होगी । पहले ये ध्वनियाँ केवल निरर्थक चिल्लाहट के रूप में रही होंगी, धीरे-धीरे इन्होंने सोद्देश्य पुकार का रूप लिया होगा और बाद में ये ही व्यवस्थित शब्दों का रूप ग्रहण करके भाषा बनी होंगी । रेवेज की यह भी मान्यता है कि भाषा में पहले क्रियाशब्द बने होंगे और बाद में संज्ञाशब्द । इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं–

(1) मनोविज्ञान के आधार पर निर्मित सम्पर्क-सिद्धान्त यद्यपि पर्याप्त युक्तिसंगत है, किन्तु भाषा-उत्पत्ति का पूर्ण समाधान इसके

द्वारा भी नहीं हो पाता है, परन्तु दूसरे सिद्धान्तों की अपेक्षा इसमें कुछ अधिक बल है ।

(2) इसमें भी कल्पना तथा अनुमान का आश्रय लिया जाता है ।

(3) प्रसिद्ध विद्वान् कॉसिडी के अनुसार सम्पर्क-सिद्धान्त के होते हुए भी भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान पूर्णतया नहीं हो सका है ।

इस प्रकार सम्पर्क सिद्धान्त भी आंशिक रूप में ही भाषा की उत्पत्ति की समस्या का समाधान कर सका है, पूर्णरूप से नहीं ।

9. समन्वित सिद्धान्त – उपर्युक्त मतों में से जिन तीन-चार सिद्धान्तों में आंशिक समाधान की क्षमता का अनुमान होता है, वे एकांगी रूप में भाषा की उत्पत्ति का समाधान स्पष्टतः नहीं कर सकते हैं । अतः आंशिक सत्य वाले सिद्धान्तों को समन्वित कर इस प्रश्न का समाधान खोजना युक्तिसंगत ही है । प्रसिद्ध विद्वान् हेनरी स्वीट ने किसी नये सिद्धान्त की खोज नहीं की है; अपितु अनुकरण सिद्धान्त, आवेग सिद्धान्त, प्रतीक सिद्धान्त तथा उपचार सिद्धान्त का समन्वित रूप ही प्रस्तुत किया है ।

अनुकरण सिद्धान्त में ही अनुकरण सिद्धान्त को भी शामिल समझना चाहिए, क्योंकि दोनों में ही ध्वनियों के अनुकरण पर शब्दों के निर्माण की कल्पना की जाती है । इसके साथ ही आदम मानव की भाषा में आवेगात्मक शब्दों की स्थिति भी अवश्य ही रही होगी, क्योंकि सभी भाषाओं में इस प्रकार के मिलते-जुलते शब्द उपलब्ध होते हैं । इनके अलावा भाषा में प्रयुक्त अन्य शब्दों का समाधान प्रतीक सिद्धान्त के द्वारा किया जा सकता है । प्रारम्भ में भाषा स्थूल एवं वर्णनात्मक ही होती है । उसी से बाद में सूक्ष्म, लाक्षणिक तथा व्यंजनात्मक भाषा का धीरे-धीरे विकास होता है । पत्र शब्द इसका अच्छा उदाहरण है । पहले वृक्षादि के पत्ते के अर्थ में इसका व्यवहार होता था, परन्तु बाद में अनेक स्थूल, सूक्ष्म एवं व्यंग्य अर्थों में इसका व्यवहार होने लगा । इसी प्रकार भाषा में ऐसी अनेक ध्वनियाँ हैं, जो पहले स्थूल पदार्थों की द्योतक थीं, पर बाद में सूक्ष्म अर्थों में प्रयुक्त होने लगीं ।

प्रतीक-सिद्धान्त के साथ ही उपचार-सिद्धान्त को भी शामिल कर लिया जाये तो भाषा में प्रयुक्त शब्दों के एक बड़े भाग का समाधान हो जाता है। उपचार का अर्थ है—ज्ञात के आधार पर अज्ञात की व्याख्या। भाषा की स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर ले जाने में उपचार या सादृश्य का भी बहुत योगदान है। जैसे दक्षिण अफ्रीका की सासुतो भाषा में भिनभिनाने की ध्वनि के आधार पर मक्खी को न्त्सी कहते हैं। चापलूस व्यक्ति भी चूंकि खुशामद करता हुआ अपने लक्ष्य के चारों ओर चक्कर काटता रहता है; अतः उसे भी सासुतो में न्त्सीन्त्सी ही कहने लगे। इसी प्रकार मुयुम अर्थात् स्नायुओं के खुलने-बन्द होने के आधार पर आस्ट्रेलिया के आदिम निवासियों ने बाद में पुस्तक को भी 'मूयूम' ही कहना आरम्भ कर दिया। संस्कृत की 'व्यथ्' और 'कुप्' धातुएं पहले भौतिक पदार्थों के कम्पन और गति को सूचित करती थीं, जैसे— 'व्यथमाना पृथिवी' तथा 'कुपितः पर्वतः' का अर्थ क्रमशः काँपती हुई पृथ्वी तथा चलता हुआ पहाड़ था। किन्तु बाद में उपचार के कारण मानसिक सूक्ष्म अर्थों में भी इनका प्रयोग होने लगा। जैसे 'व्यथा' अर्थात् मानसिक पीड़ा तथा 'कोप' अर्थात् क्रोध।

स्वीट का मत यद्यपि पर्याप्त सत्य है, तथापि उसे भी पूर्णतया निर्दोष नहीं माना जाता है। उसमें अपने में गृहीत सिद्धान्तों के दोष तो हैं ही; इसके अतिरिक्त भी वह भाषा की उत्पत्ति की समस्या का पूर्णरूपेण समाधान करने में असमर्थ रहा है।

इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत किये जाते हैं, तथापि ये सभी सिद्धान्त अनुमान पर आधारित है। अतः इनका केवल यही महत्त्व है कि इनसे हमें यह ज्ञान हो जाता है कि इस समस्या पर विद्वानों ने क्या-क्या विचार व्यक्त किये हैं। अतः इनका महत्त्व केवल ऐतिहासिक ही है।

वास्तव में भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक उलझा हुआ ही है। भविष्य में भी इसका कोई समाधान हो सकेगा, यह आशा प्रतीत नहीं होती क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाण प्रत्यक्ष नहीं है तथा अनुमान प्रमाण का विज्ञान में कोई महत्व नहीं है। यही कारण है कि फ्रांस की भाषाविज्ञान समिति ने अपने कार्यक्रमों में भाषा की उत्पत्ति के विचार पर हमेशा के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया था।

5. भाषा परिवर्तन की दिशाओं से क्या तात्पर्य है? भाषा-परिवर्तन की प्रमुख दिशाओं का वर्णन कीजिए।

अथवा

भाषा परिवर्तन के बाह्य और आन्तरिक कारणों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – **भाषा परिवर्तन की दिशाएँ –** परिवर्तन सृष्टि का प्रत्येक वस्तु का नियम है। वस्तुतः परिवर्तन का ही नाम उत्पत्ति, विकास तथा विनाश है, किन्तु परिवर्तन की गति सभी वस्तुओं में एक जैसी नहीं होती, कहीं वह मन्द हाती है तो कहीं क्षिप्र। स्वयं मनुष्य के शारीरिक अथवा बौद्धिक विकास की गति इतनी मन्द है कि पर्याप्त विकास हो जाने के उपरान्त हो, वह दृष्टिगोचर होता है। भाषा भी परिवर्तन के इस नियम का अपवाद नहीं है। यूँ इसमें परिवर्तन तो प्रतिपल होता रहता है, किन्तु वह अनुभवगम्य नहीं होता हैं जब परिवर्तन पूंजीभूत हो जाता है, तभी पकड़ में आना है और ऐसा कई सौ वर्षों में हुआ करता है।

मानव जीवन प्रगतिशील है। मनुष्य के आचार-विचार, रहन-सहन तथा सोचने-समझने के ढंग में सदा परिवर्तन होता रहता है, भाषा विचारों का वाहन है। विचारों में परिवर्तन के साथ उसके वाहन में भी परिवर्तन आना स्वाभाविक है। भाषा में यह परिवर्तन कई रूपों में प्रकट होता है। कहीं वह ध्वनि से सम्बन्धित होता है तो कहीं इसका प्रभाव वाक्यविन्यास पर पड़ता है, कहीं रूप सम्बन्धी परिवर्तन है तो कहीं अर्थ ही बदल जाता है। जैसे उपाध्याय से पाधा-पाझा-झा ध्वनि परिवर्तन है, मध्ये-मज्झे-मज्झि-मांहि में स्प परिवर्तन हुआ है। मृग पशुमात्र के लिए प्रयोग होता था, परन्तु आज हरिण के लिए प्रयुक्त होता हैं इसी प्रकार असुर का अर्थ देवता से राक्षस हो गया। यहाँ अर्थ परिवर्तन हुआ है।

इस प्रकार यह परिवर्तन निरन्तर अबाध गति से हो रहा है। भाषा के इस परिवर्तन को भाषाविज्ञानी विकास का और वैयाकरण ह्रास का नाम देते हैं। भाषा परिवर्तन की पाँच प्रमुख अधोलिखित दिशाएँ हैं–

1. ध्वनि परिवर्तन – भाषा की छोटी, परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण इकाई ध्वनियाँ अथक ध्वनि संकेत हैं। इसमें वर्णागम, वर्णलोप और वर्ण-विपर्यय आदि के रूप में बड़े विचित्र परिवर्तन होते हैं–

(क)	वर्णलोप	(स्वर)	अनाज – नाज
			शिक्षा – सीख
		(व्यंजन)	कोकिल – कोइल
(ख)	वर्णागम		अस्थि – हड्डी
(ग)	वर्ण-विपर्यय		अंगुली – उंगली

2. शब्द परिवर्तन – ध्वनियों के परिवर्तन से उनके संयोग से बनने वाले शब्दों में परिवर्तन का आना स्वाभाविक है । जैसे–

भ्राता	–	भाई
दुग्ध	–	दूध

कुछ शब्दों में इतना अधिक परिवर्तन आ जाता है कि उनके मूल रूप की पहचान कठिन हो जाती है । जैसे–

उपाध्याय	–	झा

3. पद-परिवर्तन – निर्विभक्तिक शब्द ही सविभक्तिक होकर पद संज्ञा पाते हैं । संस्कृत में विभक्ति चिह्न शब्द के साथ जुड़ जाते थे, परन्तु प्राकृत , अपभ्रंश हिन्दी आदि भाषाओं में विभक्ति चिह्न अलग रहे हैं । जैसे– संस्कृत का रामः, रामम्, हिन्दी में राम ने, राम को हो जाता है ।

शब्दों और पदों की रचना की विधि में परिवर्तन आने से पदों में ही स्वभावतः परिवर्तन आ जाता है जैसे–

रामः ग्रामम् गच्छति ।
राम गाँव को जाता है ।

इसे हरियाणवी में कहेंगे

राम गामान् जावे सै ।

4. वाक्य परिवर्तन – पदों के संयोग से वाक्य बनते हैं और सभी भाषाओं में पदों के विन्यास का क्रम अपना-अपना होता है । संस्कृत सविभक्तिक भाषा है । वहाँ किसी पद को वाक्य में कहीं भी रख देने से कोई अन्तर नहीं आता है जैसे–

रामः रावणं हन्ति ।
हन्ति रावणं रामः । आदि ।

परन्तु हिन्दी में कर्ता, कर्म आदि के विन्यास के क्रम की एक व्यवस्था है, जिसका पालन अनिवार्य होता है । यहाँ—राम रावण को मारता है के स्थान पर रावण को राम मारता है आदि नहीं लिखा जा सकता । निश्चित क्रम-व्यवस्था का पालन अनिवार्य है ।

5. अर्थ-परिवर्तन – अर्थ-विस्तार, अर्थ-संकोच कई रूपों में अर्थ-परिवर्तन होता रहता है । तिल के सारभाज के रूप में आने वाला तेल शब्द का अर्थ इतना विस्तृत हो गया है कि नारियल और मूंगफली आदि के निष्पन्द को भी तेल कहा जाता है । मृग शब्द का अर्थ पशुमात्र से संकुचित होकर एक प्राणी के लिए सुरक्षित हो गया है । उष्ट्र का अर्थ भैंसा से ऊँट हो गया है ।

भाषा-परिवर्तन के कारण

भाषा में परिवर्तन के कारणों को स्थूल रूप से दो भागों—बाह्य और आन्तरिक में बाँट सकते हैं—

बाह्य कारण –

1. स्थानीय – प्रत्येक देश के निवासी भौगोलिक स्थितियों के फलस्वरूप ध्वनियों के विशिष्ट रूप के उच्चारण में अभ्यस्त हो जाते हैं । जैसे—फारसी तथा उर्दू भाषियों के क़ ख़ ग़ ज़ फ़ आदि ध्वनियों का अंग्रेज़ी भाषा-भाषियों में त तथा ढ ध्वनियों के स्थान पर ट तथा ड ध्वनियों का, बंगलाभाषियों में स के स्थान पर श ध्वनि का प्रयोग पाया जाता है । वस्तुतः देश-विशेष की जलवायु तथा अन्य भौतिक परिस्थितियों का वहाँ के निवासियों के वाग्यन्त्र पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उन्हें विशेष प्रकार की ध्वनियों के उच्चारण में सुविधा मिलती हैं और बाद में इन्हीं ध्वनियों की प्रधानता उनकी बोलचाल की भाषा में व्याप्त हो जाती है ।

2. काल भेद – भाषा के परिवर्तन में समय का भी बहुत बड़ा हाथ रहता है । आज हम जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह सौ वर्ष पूर्व की भाषा से और सौ वर्ष बाद की भाषा से सम्भवतः भिन्न ही हैं । समय का यह अन्तराल भाषाओं के पार्थक्य को स्पष्ट कर देता है । वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत का भेद इस तथ्य का पोषक है । यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो पुत्र की भाषा बाप दादा की भाषा से भिन्न होती है ।

3. विजातीय सम्पर्क – जब विभिन्न देशों की दो जातियाँ एक-दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो उनका एक दूसरे से आचार-विचार तथा बोल-चाल में प्रभावित होना अनिवार्य-सा हो जाता है। प्रायः सबल अथवा विजेता जाति का निबल अथवा विजित जाति पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ता है। यवनो और अंग्रेज़ों के सम्पर्क में आने से उनका प्रभाव भारतीयों की विचारधारा और भाषाकोश पर स्पष्ट है। आज फारसी तथा अंग्रेज़ी के बहुत से शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गये हैं और इन्हें साधारण व्यक्ति तो अपनी ही भाषा का मानने लगता है। जैसे–लालटेन, बटन, पाजामा, रजाई, खेल आदि।

4. राजनैतिक परिस्थिति – यद्यपि भाषा सामाजिक सम्पत्ति है, जिस पर बाहर के कानूनों की शक्ति का प्रभाव नगण्य ही होना चाहिए। तथापि भाषा की गति, परिवर्तनशीलता, विकास, उन्नति तथा अवनति पर राजनैतिक परिस्थिति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जैसे–अपभ्रंश की उन्नति आभीर राजाओं के कारण, पालि का प्रभुत्व अशोक के कारण और अंग्रेज़ों का आदर अंग्रेज़ों के भारत में सत्तारूढ़ होने के कारण हुआ। आज स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय भावना के कारण खड़ी बोली की प्रतिष्ठा बढ़ गयी है।

5. सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था – किसी देश की सामाजिक अवस्था भी उसकी भाषा को बहुत अंशों में प्रभावित करती है। अंग्रेज़ों के राज्यकाल में मुसलमानों की जातीय एकता के कारण उर्दू कचहरियों और स्कूलों की भाषा बनी। भाषा के परिवर्तन और उसकी गतिशीलता में धर्म का भी बड़ा हाथ रहता है। संस्कृत, पालि, पंजाबी आदि की उन्नति का रहस्य क्रमशः हिन्दुओं, बौद्धों और सिक्खों द्वारा इन्हें धर्मभाषा के रूप में अपनाना है।

6. शिक्षा तथा संस्कृति – समाज के सर्वत्र दो रूप पाए जाते हैं–सभ्य और असभ्य अथवा शिक्षित और अशिक्षित। समाज में सभी स्त्री-पुरुष बालक-वृद्धि, नौकर-चाकर, शिक्षित नहीं हुआ करते। शिक्षितों और अशिक्षितों की संस्कृति में बहुत भेद होता है। न तो अशिक्षित शिक्षितों की भाषा का उच्चारण कर पाता है और न बच्चे बड़ों की भाँति बोल पाते हैं उसके फलस्वरूप वर्णविपर्यय, ध्वनि विकास, भ्रामक व्युत्पत्ति आदि के कारण भाषा में अनेक परिवर्तन हो जाते हैं। बात यह है कि प्रारम्भ में ये विकार

सीमित क्षेत्र में होते हैं, किन्तु धीरे-धीरे इनके क्षेत्र का विस्तार हो जाता है ।

आन्तरिक कारण

1. व्यक्ति वैचित्र्य – प्रत्येक व्यक्ति बाहर से एक-सा अवश्य दिखाई देता है, किन्तु उसमें मानसिक विभिन्नता के अतिरिक्त शारीरिक विभिन्नता भी पायी जाती है । प्रकृति का नियम भी यही रहा है—एकता में विभिन्नता और विभिन्नता में एकता । एकता के कारण भाषा, रहन-सहन आदि में आपसी समानता दिखाई पड़ती है और विभिन्नता के कारण इस समानता में भी भीतर ही भीतर विभेद आता रहता है । वहीं विकास का कारण बन जाता है । प्रत्येक मनुष्य का वाग्यन्त्र एक-सा नहीं होता, इसलिए उच्चारण के समय अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी उसमें कुछ विभिन्नता आ ही जाती हैं । इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के बोलचाल का एक निजी ढंग बन जाता है । इसका भी वाक्यविन्यास तथा अर्थग्रहण पर निश्चित प्रभाव पड़ता है । अतः अनुकरण करने पर उच्चारण के समय विभिन्नता का आ जाना स्वाभाविक है ।

2. प्रयत्न लाघव – प्रयत्न लाघव का अर्थ श्रम की अल्पता अर्थात् अधिक श्रम न करना है । मनुष्य की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह न्यूनातिन्यून प्रयास से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहता है । जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के समान भाषा के प्रयोग में भी यही भावना काम करती है । लोग टेलीफोन, रेलवे, ट्रेन एयरोप्लेन तथा न्यूजपेपर को क्रमशः फोन, ट्रेन, प्लेन तथा पेपर कहकर काम चलाते हैं ।

श्रम से बचने की मनोवृत्ति के फलस्वरूप ही उपाध्याय, चतुर्वेदी तथा द्विवेदी के क्रमशः झा, चौबे तथा दुबे हो गये हैं । अंग्रेज़ी के संक्षिप्त रूप यू. एन.ओ., एन.सी.सी., यू.जी.सी. आदि भी प्रयत्न लाघव की ही देन है । प्रयत्न लाघव का ही दूसरा नाम उच्चारण सौन्दर्य अथवा मुख-सुख है ।

3. भावातिरेक – प्रेम, क्रोध, शोक तथा घृणादि भावों के अतिरेक की स्थिति में भी शब्दों का रूप कई प्रकार से बदल जाता है । जैसे— प्रेम से बच्चे को बचवा या बेटी को बिटिया कहना, खीझ के कारण राम को रमुआ कहना,

क्रोध के कारण पका को पक्का, नदी को नद्दी कहना आदि इसी भावातिरेक के उदाहरण हैं ।

4. मिथ्या सादृश्य – सादृश्य का अर्थ एक विद्वान् के अनुसार पहले से विद्यमान शब्दों के ढाँचे में नये शब्दों का ढालना या गढ़ना सादृश्य कहलाता है । इसके अन्तर्गत एक बार जब किसी शब्द का कोई विकृत रूप प्रचुरता के साथ काम में आने लगता है तो बाद में अन्य इसी प्रकार के कई उपयोगों के आधार पर इस विकार के लिए एक नियम बना लिया जाता है और बाद में इसी नियम के अनुसार अन्य रूप गढ़े जाते हैं । जैसे–कागज़ के स्थान पर कागज का प्रयोग होने पर गरीब के स्थान पर गरीब तथा हाजिर के स्थान पर हाजिर का प्रयोग चल पड़ा ।

5. नवनिर्माण की प्रवृत्ति – आवश्यकता की पूर्ति के लिए जब नये शब्द गढ़े जाते हैं तो इससे भाषा (शब्द रूपों) में परिवर्तन आ जाता है । फिल्माना, स्वीकारना, दर्शाना आदि क्रिया रूप इसी प्रकृति के उदाहरण हैं ।

6. भाषा के विविध रूप का क्या अर्थ है? बोली तथा उपबोली को संक्षेप में समझाइए ।

उत्तर – भाषा के इतिहास, भूगोल, व्यवहार, साधुता-असाधुता तथा निर्मित के आधार पर भाषा के विविध रूप प्रचलित हैं जैसे–मूल भाषा, भाषा, बोली या व्यक्ति बोली, उपबोली, परिनिष्ठित भाषा, राष्ट्रभाषा, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा, कृत्रिम भाषा, साहित्यिक भाषा आदि । इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ प्रस्तुत है–

व्यक्ति बोली या बोली – ध्वनि समूह का स्थानीय अथवा घरेलु प्रयोग होने पर उसका अस्तित्व वक्ता के मुख और श्रोता के कान पर सीमित रह जाता है । उसमें किसी प्रकार की साहित्य रचना नहीं होती है । इस प्रकार के ध्वनि समूह को 'पेखा' अथवा 'बोली' संज्ञा दी जाती है । बोली या व्यक्ति बोली किसी एक वर्ग की भी हो सकती है और एक वर्ग में भी अपने-अपने कुटुम्ब की हो सकती है । यद्यपि उसमें भावाभिव्यक्ति की पूर्ण क्षमता विद्यमान होती है तथापि उसका उपयोग उतना किया जाता है जितना दैनिक जीवन के कार्यकलाप में अत्यन्त आवश्यक होता हैं । इस प्रकार बोलचाल में

प्रयुक्त होने वाली भाषा के स्थानीय रूप को बोली कहते हैं । भाषाविज्ञान के विद्वानों द्वारा इसकी परिभाषाएँ प्रस्तुत की गयी हैं–

1. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी – जो भाषायें मण्डलीय स्तर पर स्वीकृत रहती हैं तथा जिनमें साहित्यिक रचनाएँ भी विद्यमान रहती हैं उन भाषाओं को 'बोली' की श्रेणी में लिया जाना उचित है । जैसे–हिन्दी की बोलियाँ ब्रज, अवधी, कुमायूँनी, बुन्देली, भोजपुरी आदि ।

2. जी.वान्द्रयेज – निजी उच्चारण व पद-रचना के कारण बोली का अपना अस्तित्व होता है, वह वक्ता की मनोवैज्ञानिक वृतियों से स्वतन्त्र होती है ।

बोली में व्याकरण का बन्धन नहीं रहता, जिस प्रकार व्यक्ति समाज की एक इकाई है, वही स्थिति बोली की भी है क्योंकि कई बोलियों को मिलाकर एक भाषा का निर्माण होता है । बोली की स्थिरता सन्देहास्पद होती है, वह थोड़ी देर में बदल जाती है । अतः उसमें साहित्य रचना सम्भव भी नहीं है ।

आज जो हिन्दी है, कभी खड़ी बोली थी जिसका वर्चस्व मेरठ, मुजफ्फर नगर, बिजनौर तथा दिल्ली के कुछ भागों में था, आज भी इसका वहाँ यही नाम है ।

उपबोली या स्थानीय बोली – भाषा का यह रूप भूगोल पर आधारित है । एक छोटे से क्षेत्र में इसका प्रयोग होता हैं यह बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप है । किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अन्तर न हो स्थानीय बोली या उपबोली कहलाता है । एक बोली के अन्तर्गत कई उपबोलिया होती हैं । किसी बोली के वर्णन में जब हम उसके दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यवर्ती आदि उपरूपों की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय उपबोली या स्थानीय बोली से ही होता हैं भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में इस प्रकार की कई उपबोलियाँ हैं ।

हिन्दी में कुछ लोगों ने भाषा के इस रूप के लिए 'बोली' नाम का उपयोग किया है, किन्तु 'बोली' का प्रयोग अंग्रेज़ी 'डाइलेक्ट' के लिए प्रायः चल पड़ा है । अतः इसके लिए उसका प्रयोग न करना ही उचित है । भाषा के इस रूप के लिए अंग्रेज़ी में 'सब डाइलेक्ट' शब्द चलता है, उस आधार पर 'उपबोली' शब्द उचित है । अंग्रेज़ी में इसके बहुत निकट के अर्थ में एक

फ्रांसीसी शब्द 'पैटवा' भी चलता है। पैटवा डाइलेक्ट या बोली का एक उपरूप तो है, किन्तु उसकी कुछ विशेषताएँ भी हैं और इसी कारण उसे ठीक अर्थों में 'उपबोली' या 'सब-डाइलेक्ट' का समानार्थी नहीं माना जा सकता, जैसाकि डॉ. श्यामसुन्दर दास आदि हिन्दी के कुछ भाषाविज्ञानवेत्ताओं ने माना है। यूरोप और अमेरिका के भाषाविज्ञानविदों ने पैटवा का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसमें प्रायः 4 बातें शामिल हैं—

(1) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा, स्थानीय रूप है।

(2) यह असाहित्यिक है।

(3) यह असाधु है।

(4) यह अपेक्षाकृत निम्न सामाजिक स्तर के अशिक्षितों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। कहना न होगा कि इनमें केवल पहली बात ही उपबोली में होती है। और बातें हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। जैसे राजस्थानी के अन्तर्गत ऐसी उपबोलियाँ हैं, जिनमें साहित्यिक रचनाएँ हुई हैं। ऐसी स्थिति में वे उपबोली तो हैं, किन्तु 'पैटवा' नहीं। अतएव 'उपबोली' को 'पैटवा' नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार बहुत सी व्यक्ति बोलियों—जो आपस में प्रायः पर्याप्त साम्य रखती हों—का सामूहिक रूप उपबोली है, उसी प्रकार बहुत सी मिलती-जुलती उपबोलियों का सामूहिक रूप बोली है और मिलती-जुलती बोलियों का सामूहिक रूप भाषा है। अन्य शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि एक भाषाक्षेत्र में कई बोलियाँ जैसे बुन्देली बोली के अन्तर्गत लोधान्ती, राठौरी, पंवारी आदि उपबोलियाँ।

बोली शब्द यहाँ अंग्रेज़ी डाइलेक्ट का प्रतिशब्द है। कुछ हिन्दी के विशेषज्ञ बोली के लिए 'विभाषा', 'उपभाषा' या 'प्रान्तीय भाषा' का भी प्रयोग करते हैं। एक भाषा के अन्तर्गत कई बोलियाँ होती हैं, या बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और भाषा का बड़ा। इस रूप में बोली का स्वरूप स्पष्ट है, किन्तु प्रकृति की दृष्टि से भाषा और बोली में अन्तर करना बहुत कठिन है, फिर भी काम चलाने के लिए बोली की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है— 'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते

हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्यगठन, अर्थ, शब्दसमूह, मुहावरे आदि की दृष्टि से उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किन्तु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह, मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती ।

एक भाषा के अन्तर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें 'बोली' कहते हैं । सामान्य रूप से कोई बोली तभी तक बोली कही जाती है जब तक उसे–

(1) साहित्य, धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्त्व न प्राप्त हो, अथवा

(2) जब तक पड़ोसी बोलियों से उसे भिन्न करने वाली उसकी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जाएँ कि पड़ोसी बोलियों के बोलने वाले उसे समझ न सकें । इन दोनों में किसी एक अथवा दोनों की प्राप्ति करते ही बोली भाषा बन जाती है । अंग्रेज़ी, हिन्दी, रूसी, संस्कृत, ग्रीक तथा अरब आदि संसार की सभी भाषाएँ अपने आरम्भिक रूप में बोली रही होगी और बाद में महत्त्व प्राप्त होने पर या विकास के कारण पूर्ण रूप से भिन्न हो जाने पर वे भाषा बन गई । इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी, मैथिली आदि उपयुक्त कारणों से भाषाएँ बन सकती हैं ।

बोलियों के बनने का कारण –बोलियों के बनने का कारण मुख्य रूप से भौगोलिक है । मूल अवस्था में एक भाषा थी । उससे कई शाखाएँ फूटकर अलग-अलग चली गई और एक-दूसरे से इतनी दूर जा बसीं कि आपस में किसी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव न था । एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे । परिणाम यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गई और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गई । किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से सम्बन्ध-विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का मुख्य कारण है । ऐसा

भी होता है कि यदि कोई भाषा बहुत दिन से एक बड़े क्षेत्र में बोली जा रही है और उस क्षेत्र में एक उपक्षेत्र के लोग दूरी के कारण दूसरी उपक्षेत्र के लोगों से नहीं मिल पाते, तो उन दोनों या अधिक उपक्षेत्रों में भी बोलियाँ विकसित हो जाती हैं ।

हिन्दी में अवधी, ब्रज आदि इसी प्रकार विकसित हो गई हैं । भूकम्प या जल-प्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं । एक क्षेत्र के बीच में बाधा आ जाती है, अतः लोग मिल नहीं पाते और बोलियाँ विकसित हो जाती हैं प्रायः यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर बस्तियाँ भाषा की दृष्टि से कुछ अन्तर रखती हैं । यह भी उसी का द्योतक है । कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग अपनी भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और वहाँ भी उनकी नयी बोली विकसित हो जाती है । मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था वहाँ से लोग इंग्लैंड में बस गये और अंग्रेज़ी उसकी एक अलग बोली बन गई । कभी आसपास की भाषाओं या दूर की भाषाओं के प्रभाव के कारण भी एक भाषा में एक क्षेत्रीय रूप विकसित हो जाता है और वह बोली का रूप धारण कर लेता है ।

बोलियों के महत्त्व पाने के कारण – कुछ बोलियाँ किसी प्रकार महत्त्व की प्राप्ति कर धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती है । बोलियों के महत्त्व पाकर भाषा की संज्ञा पाने के मुख्य कारण अधोलिखित हैं–

(1) कुछ बोलियाँ जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती हैं अथवा अपनी अन्य बहनों के मर जाने के कारण अकेली बच पाती हैं तो उन्हें महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगता है और वे 'भाषा' की संज्ञा से विभूषित हो जाती हैं । 'ब्राहुई' इसी कारण से भाषा कहलाती है ।

(2) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं । प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अतः उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था ।

(3) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्त्व बढ़ा देती है । राम-सम्बन्धी मुख्य तीर्थ अयोध्या है तथा कृष्ण-सम्बन्धी मथुरा । परिणाम यह हुआ कि दोनों स्थानों की बोलियों (अवधी तथा ब्रज) को औरों की अपेक्षा अधिक

महत्त्व मिला और कई सदियों तक वे साहित्य की भाषा बनी रहीं । 'ब्रज' का तो नाम ही ब्रजभाषा हो गया था । इसी प्रकार 'खड़ीबोली' को महत्त्व प्रदान करने में आर्य समाज का भी योगदान रहा है ।

(4) बोलने वालों का महत्त्वपूर्ण होना भी बोली को महत्त्वपूर्ण बना देता है । अंग्रेज़ी जो मूल रूप से एक बोली है, अंग्रेज़ी के आधुनिक युग में विश्वभर में अपना व्यापार फैला देने तथा उनके महत्त्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एवं अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है । चाहे जर्मनी हो या जापान, चीन हो या फ्रांस, सभी लोग अपनी बनाई पुस्तकों पर प्रायः अंग्रेज़ी में ही (Made in) लिखते हैं । इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अंग्रेज़ी का ज्ञान आवश्यक माना जाता है क्योंकि इसका प्रचार प्रायः सर्वत्र है, यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती ही दीख रही है ।

(5) बोली के महत्त्वपूर्ण होने का सर्वप्रमुख कारण राजनीति है । जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा, वहाँ की बोली अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होकर भाषा बन जायेगी । दिल्ली के समीप की खड़ी बोली आज हिन्दी भाषा भाषी राज्यों की मुख्य भाषा है और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण बोलियों को भी दबाकर भाषा ही नहीं, राज एवं राष्ट्रभाषा के स्थान को अपना लिया है । इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेज़ी बोलियाँ अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई है तथा अपने देश की राष्ट्रभाषा बन बैठी है । मराठी की कोंकणी, मारवाड़ी, बरार आदि बोलियाँ ही रह गई, पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है । चीन की मन्दारिन बोली की भी यही स्थिति है । इस प्रकार के उदाहरण सभी देशों में मिल सकते हैं ।

इन सबके अतिरिक्त शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण, सेना में स्वीकृत होने के कारण, व्यापार में प्रयुक्त होने के कारण, विज्ञान आदि में व्यवहृत होने के कारण भी बोली महत्त्व प्राप्त कर लेती है । यहाँ एक संकेत कर देना आवश्यक है कि यह आवश्यक नहीं है कि महत्त्व प्राप्त करके बोली भाषा बन ही जाये । यह भी होता है कि महत्त्व प्राप्त करके भी बोली, बोली ही रह जाती है या कभी-कभी थोड़े दिन के लिए महत्त्व मिलता है और फिर छिन

जाता है । 'ब्रज' , 'अवधी' के सम्बन्ध मं ऐसा ही हुआ है ।

भाषा और बोली में अन्तर

भाषा और बोली में शुद्ध भाषा वैज्ञानिक स्तर पर भेद करना कठिन है । इनमें अन्तर तात्विक न होकर व्यावहारिक है । इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है । सामान्यतः कुछ बातें कही जासकती हैं जो इस प्रकार हैं–

(1) भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है और बोली का छोटा ।

(2) एक भाषा का एक या एक से अधिक बोलियाँ हो सकती हैं । इसके विपरीत भाषा बोली के अन्तर्गत नहीं आती, अर्थात् किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकतीं ।

(3) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है । इस प्रकार भाषा बोली में माँ बेटी का सम्बन्ध है ।

(4) यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि में एक नहीं है, किन्तु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियाँ किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है । इसके विपरीत, विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिल्कुल नहीं (अंग्रेज़ी-हिन्दी) होती या कम (पंजाबी-हिन्दी) होती है । वैसे बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्विक नहीं है । जैसे हरियाणवी-भाषा, पंजाबी-भाषा को काफी समझ लेता है, किन्तु अवधी भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियाणवी तथा अवधी हिन्दी भाषा की बोलियाँ हैं और पंजाबी एक स्वतन्त्र भाषा है ।

(5) भाषा प्रायः साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कार्यों में भी व्यवहृत होती है, किन्तु बोली लोक-साहित्य और बोलचाल में ही । यद्यपि इसके अपवाद भी कम नहीं मिलते, विशेष रूप से साहित्य में । जैसे आधुनिक काल से पूर्व का हिन्दी का सारा साहित्य ब्रज, अवधी, राजस्थान, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है ।

(6) भाषा का मानक रूप होता है, किन्तु बोली का नहीं ।

(7) भाषा बोली की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित होती है। अतः औपचारिक परिस्थितियों में प्रायः इसी का प्रयोग होता है।

(8) बोली बोलने वाले भी अपने क्षेत्र के लोगों से तो बोली का प्रयोग करते हैं, किन्तु अपने क्षेत्र के बाहर के लोगों से भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अन्तर भाषा वैज्ञानिक न होकर समाजभाषा वैज्ञानिक है।

7. मातृभाषा, राजभाषा और राष्ट्रभाषा के अन्तर का उल्लेख कीजिए।

उत्तर – मातृभाषा – भारत की मातृ-प्रधान संस्कृति के ही समान भाषा को विशेष महत्त्व देने के लिए मातृभाषा नाम दिया गया है। भाषा मानव की उन्नति का सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण माध्यम है। भाषा के आधार पर समाज का विकास हुआ है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी भाषा से आत्मीय रूप से जुड़ा होता है। इस भाषा द्वारा ही व्यक्ति का व्यक्तित्व विकसित होता है और उसके जीवन को गतिशीलता मिलती है। व्यक्ति ऐसी ही भाषा के माध्यम से परिवार और समाज में अपना स्थान बनाता है। भक्ति में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, दार्शनिक आदि भाव ऐसी भाषा के ही आधार पर विकसित होते हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि जन्म के उपरान्त बालक जिस भाषायी परिवेश में रहकर प्रारम्भिक भाव का आदानप्रदान करता है, उसे उसकी भाषा की संज्ञा देना चाहिए। माना एक बालक ब्रज क्षेत्र में रहकर बड़ा होता है तो उसकी प्रारम्भिक अभिव्यक्ति की भाषा ब्रज होगी। यह सच है कि ब्रजभाषा देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण बोली है। इसे ध्यान में रखकर हा जा सकता है कि उस बालक की मातृभाषा अवधी नहीं, हिन्दी है।

गंभीर अध्ययन से ज्ञात होता है कि ब्रजभाषा क्षेत्र में जन्म लेने वाला बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, वैसे-वैसे इस भाषा में भावाभिव्यक्ति करने लगता है। इसका प्रयोग बोलचाल या सामान्य व्यवहार में प्रभावी रूप में होता है। जब वह स्कूल जाने के योग्य होता है, तो मुख्य रूप से हिन्दी भाषा सीखता है। ब्रजभाषा ब्रज में प्रयुक्त जनपदीय भाषा है। पश्चिमी हिन्दी की एक संरचना को वह आसानी से ग्रहण कर लेता है। वह समाज, शिक्षा,

राजनीति, धर्म आदि के क्षेत्रों में गतिशील रहने के लिए हिन्दी भाषा को ही अपनाता है । ऐसी प्रक्रिया भाषा और बोली के सहज सम्बन्धों के फलस्वरूप होती है । यही बात हिन्दी या किसी भी भाषा की विभिन्न बोलियों के विषय में सत्य है ।

अतः स्पष्ट है कि जिस भाषा में मनुष्य अपने जीवन में गतिशील रहने के लिए जिस मूल या प्रारम्भिक भाषा को अपनाता है, उसे मातृभाषा कहते हैं । यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि यदि कोई हिन्दी भाषा-भाषी परवर्ती समय में अंग्रेज़ी या जर्मन भाषा सीखकर अपने जीवन में विशेष उन्नति कर ले तो उसकी मातृभाषा अंग्रेज़ी या जर्मन न होकर हिन्दी ही कहीं जायेगी । यह भी निर्विवाद सत्य है कि मातृभाषा में भावाभिव्यक्ति सरल और अधिक प्रभावी होती है । मातृभाषा के उत्तम ज्ञान के बाद किसी भी अन्य भाशा का शिक्षण सरल होता है । कुछ विद्वानों ने इसे 'निज भाषा' की संज्ञा से विभूषित किया है ।

राजभाषा

जो भाषा राज-काज में प्रयुक्त होती है, सरकारी काम' काज में जिसका प्रयोग होता है, वह राजभाषा कहलाती है । इसी में शासन के सभी आदेश-निर्देश प्रसारित होते हैं । यह भाषा राज्य द्वारा अपने कार्यों हेतु स्वीकृत कर ली जाती है । कोई भी भाषा या विभाषा राजभाषा बन सकती है । बोली में राजभाषा बनने की क्षमता नहीं होती क्योंकि बोली में न तो एकरूपता होती है और न उसकी लिपि ही होती है । राजकाज एकरूपता एवं लिपि के अभाव में नहीं चल सकता ।

1. डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना का मत – जो भाषा किसी राज्य के सरकारी कार्यों में सर्वाधिक प्रयुक्त होती है, उसे राजभाषा कहते हैं । राजभाषा- में केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें अपने पत्र व्यवहार किया करते हैं । सरकारी आदेश एवं आज्ञाएँ भी इसी भाषा में मुद्रित होती हैं और केन्द्र एवं प्रदेशों के मध्य सम्पर्क स्थापित करने का कार्य भी इसी भाव के द्वारा होता है । राजभाषा सदैव देश में शासनात्मक राज्य की स्थापना में बड़ी सहायता पहुँचाती है ।

2. भारत की राजभाषा – राजकाज चलाने हेतु किसी ऐसी भाषा की

आवश्यकता पड़ती है जो सुगम हो और अधिकाधिक जन समुदाय में प्रचलित हो। अशोक के काल में पालि के अभिलेख मिले हैं, साथ ही संस्कृत का भी प्रयोग होता रहा है। 11वीं व 15वीं शताब्दी के अनेक पुरालेख संस्कृत के प्राप्त हुए हैं, यह बात दूसरी हे कि उनमें कुछ राजस्थानी मिश्रित संस्कृत के भी हैं। मुगल काल में चार-पाँच शताब्दी तक शासन कार्य का माध्यम हिन्दी ही थी, ब्लाखमेन ने सन् 1871 के कलकत्ता रिव्यू में लिखा था, ''मालगुजारी का इकट्ठा करना और जागीरों का प्रबन्ध करना उस समय बिल्कुल हिन्दुओं के ही हाथ में था और इसलिए निजी तथा सर्वसाधारण के हिसाब-किताब सब हिन्दी में रखे जाते थे। सभी दस्तूर-उल अमलों से इस बात की पुष्टि होती है कि प्रारम्भ से लेकर अकबर शासन-काल के मध्य तक सभी सरकारी कामकाजी कागजात हिन्दी में रखे जाते थे। उसके बाद फारसी का प्रचलन हुआ और 1833 तक अंग्रेज़ों ने भी फारसी को ही माध्यम बनाये रखा। मैकाले ने आकर अंग्रेज़ी के प्रतिष्ठित करने की विशाल योजना बनायी फिर भी उर्दू के रूप में फारसी चलती रही। पर उत्तर प्रदेश में उर्दू की जगह हिन्दी कचहरियों की भाषा बनाने का आन्दोलन हुआ भारतेन्दु ने तब लिखा **सभी सभ्य देशों की अदालतों में उनके नागरिकों की बोली और लिपि का प्रयोग किया जाता है। यही ऐसा देश हे जहाँ अदालती भाषा न तो शासकों की मातृभाषा है और न प्रजा की।**

स्वाधीन भारत के संविधान में 14-9-1949 ई. को हिन्दी संघ की राजभाषा और देवनागरी लिपि राजलिपि स्वीकृत की गई। पर इसको पूर्ण समर्थन आज तक नहीं मिल सका है। इस सम्बन्ध में डॉ. राजनाथ शर्मा ने स्पष्ट किया है कि भारत का जब संविधान बना था, तब उसमें हिन्दी को सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा तथा बड़े-बड़े चौदह राज्यों (प्रान्तों) की भाषाओं को राज्यभाषाओं का दर्जा प्रदान किया गया था अर्थात् उस समय मूल उद्देश्य ही था कि अखिल भारतीय स्तर पर हिन्दी का राजकाज में व्यवहार होगा तथा राज्यों में वहाँ की अपनी भाषाएँ राजकाज तथा शिक्षा का माध्यम बनेगी। भारत के प्रमुख चौदह राज्य हैं—असम, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु,

कर्नाटक और केरल । इनमें से उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा दो नवोदित छोटे राज्यों—हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की राजभाषा हिन्दी तथा अन्य राज्यों की राजभाषाएँ वहाँ की अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाएँ स्वीकार की गई थीं । संविधान की दृष्टि से अब भी स्थिति यही है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से स्थिति इससे भिन्न है ।

3. हिन्दी राजभाषा के सामने समस्या – राष्ट्रीय चेतना यदि हमारे भीतर उगती रही होती तो हिन्दी ही समूचे भारत की राज्य भाषा होनी चाहिए थी पर उसके लिए पर्याप्त विरोध होता रहा जिसका आधार अंग्रेज़ भक्तों की मानसिकता ही रही ।

हमारे भीतर राष्ट्रीय गौरव और भारतीय संस्कृति का भाव मिट गया है, फलतः हम विदेशी भाषा जिसके माध्यम से हमें गुलाम बनाये रखा गया था कि अपने ऊपर चिपकाए हुए हैं । दक्षिण के लोगों को लगता हे कि अगर हिन्दी का वर्चस्व बढ़ गया तो अखिल भारतीय सेवाओं (I.A.S., I.P.S.) में उनका पलड़ा हल्का हो जायेगा । यही कारण है कि हिन्दी संविधान द्वारा स्वीकृत होकर भी सारे भारत को राज्यभाषा नहीं बन सकी है । इधर हिन्दी समर्थक भी उतना बलवान प्रयास नहीं कर रहे हैं ।

राष्ट्रभाषा

प्रायः जब विभाषा ही राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक अथवा धार्मिक आन्दोलन के कारण उपप्रान्त और प्रान्त की सीमाओं का अतिक्रमण करके और अधिक व्यापक तथा विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग में लाई जाने लगती है तो उसे भाषा अथवा राष्ट्रभाषा कहते हैं । राष्ट्रभाषा के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसके वर्धस्व के लिए उसकी सारी विभाषाएँ लुप्त हो जाएँ । वस्तुतः विभाषाओं का अपने-अपने क्षेत्र में उपयोग होने पर भी राष्ट्रभाषा की यथोचित प्रतिष्ठा रहती है । उस अवस्था में यह भाषा राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने का अनिवार्य साधन बन जाती है । राष्ट्रभाषा में साहित्य रचना पर्याप्त मात्रा में होता है और इसका प्रयोग प्रायः शिष्ट वर्ग में होता है । राष्ट्रभाषा बनने के लिए उसका राजभाषा बनना आवश्यक तो नहीं परन्तु प्रायः वह राजकाज की भाषा बन ही जाती है ।

1. डॉ. त्रिलोकीनाथ श्रीवास्तव – ''किसी राष्ट्र के अधिकांश लोगों द्वारा व्यवहार की जाने वाली भाषा राष्ट्रभाषा कहलाती है । एक देश अथवा राष्ट्र के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोगों से जो भिन्न भाषा बोलते हैं–सम्पर्क करने हेतु राष्ट्रभाषा का ही आश्रय लेते हैं ।'' इस आधार पर राष्ट्रभाषा को सम्पर्क भाषा भी कहा जाता है । राष्टभाषा सम्पूर्ण राष्ट्र में प्रचलित होती है । उसके बहुत से बोलने वाले तथा समझने वाले राष्ट्र के प्रत्येक भाग में मिल सकते हैं ।

2. डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना – 'जो भाषा किसी राष्ट्र के भिन्न- भिन्न भाषाभाषियों के पारस्परिक विचार-विनिमय का साधन बनती हुई समूचे राष्ट्र को भावात्मक एकता के सूत्र में बांधती है, उसे ''राष्ट्रभाषा' कहते हैं । वैसे किसी भी राष्ट्र में प्रचलित सभी भाषाएँ राष्ट्रीय भाषाएँ होती हैं परन्तु प्रत्येक समृद्धिशाली राष्ट्र की कोई एक भाषा ही 'राष्ट्रभाषा' के नाम से अभिहित की जाती है, क्योंकि वह भाषा उस राष्ट्र की प्रतीक होती है, उसी को विदेशी राष्ट्र में सम्मान दिया जाता है । उसी में सारे राष्ट्र की अन्तरात्मा विद्यमान रहती है और उसी को उस राष्ट्र के नाम से अन्य देशों में जाना जाता है ।

3. राष्ट्रभाषा विदेशी भाषा– यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रभाषा अपने ही देश की भाषा हो । एक भाषा का व्यवहार करने वाले जब दूसरे देश पर अधिकार कर लेते हैं तो अपनी भाषा को वहाँ की राष्ट्रभाषा बनाते हैं । अंग्रेज़ अमेरिका एवं आस्ट्रेलिया में न केवल बस गये, अपितु वहाँ का शासन भी प्राप्त कर लिया । इन दोनों देशों की राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी है, यह बात दूसरी हे कि यह अंग्रेज़ी इंग्लैंड की अंग्रेज़ी से भिन्न है । भारत में भी कभी उर्दू कभी अंग्रेज़ी ही राष्ट्रभाषा रही है ।

अंग्रेज़ों ने अपने भारतीय शासन में अंग्रेज़ी के भारत के सम्पर्क भाषा एवं अघोषित राष्ट्रभाषा बना दिया था । अंग्रेज़ चले गये पर अपनी लीद छोड़ गये जिसे हम बड़े चाव से उपयोग कर रहे हैं । पहले अंग्रेज़ों को मात्र 15 वर्ष के लिए रखा गया था, पर दक्षिण भारतीयों के दबाव में वह आज भी जीवित है ।

4. राष्ट्रभाषा और राजभाषा में अन्तर – राष्ट्रभाषा वह भाषा है जो समूचे राष्ट्र में मान्य होती है और राजभाषा वह होती है जिसका उपयोग राजकीय

कार्यों में किया जाता है । भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी है, पर अंग्रेज़ी भी खूब चल रही है । अतः इसे राजभाषा ही माना जा सकता है । यह भी बड़ अजीब स्थिति है–दिल्ली, उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश की राजभाषा हिन्दी ही है । फिर भी इन प्रान्तों का काम काज केन्द्र के साथ अंग्रेज़ी में भी होता है ।

5. राष्ट्रभाषा का महत्त्व – वह राष्ट्र ही क्या जिसकी अपनी भाषा न हो । राष्ट्र के लिए जिन तत्वों की अवधारणा की गई है, उनमें से एक यह भी है–अपनी भाषा जिस पर राष्ट्र गौरव कर सकता है । उसकी अस्मिता का वही आधार होती है, जिस देश की अपनी राष्ट्रभाषा नहीं होती वह राष्ट्र अपूर्ण ही माना जाता है ।

2. भाषाविज्ञान एवं आधुनिक भाषाविज्ञान

1. भाषाविज्ञान को परिभाषित करते हुए इसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए।

अथवा

भाषाविज्ञान के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – मानव अपने भावों को व्यक्त करने के लिए जिस सार्थक मौखिक साधन को अपनाता है, वह भाषा है यद्यपि संकेत आदि के द्वारा भी कुछ भावें की अभिव्यक्ति हो जाती है, परन्तु अपने भावों को सूक्ष्म और स्पष्ट रूप में व्यक्त करने का साधन भाषा ही है। मनन, चिन्तन और विचार का साधन भी भाषा ही है। विश्व के प्रत्येक देश में कोई न कोई भाषा बोली जाती है और वही उसके विचारविनिमय का माध्यम है।

वैदिक ऋषियों ने सर्वप्रथम ऋग्वेद में वाक्सूक्त के 8 मंत्रों में इस विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि वाग् तत्व या भाषा ही वह दिव्य ज्योति है जो मानव को ऋषि, देवता या विद्वान् बनाती है।

अहमेकस्थमिदं वदामि जुष्टं देवैर्भिरुत मानुषेभिः।
यं कामयेत तमुग्रं तं ब्रह्माणे तंमृर्षितं सुमेधाम।।

इससे स्पष्ट है कि व्यावहारिक दृष्टि से भाषा की कितनी उपयोगिता है। भाषा के महत्त्व को स्वीकार करते ही विभिनन जिज्ञासायें उठ खड़ी होती हैं–भाषा के विशय में इन जिज्ञासाओं का समाधान भाषाविज्ञान के माध्यम से होता है। भाषाविज्ञान भाषा सम्बन्धी सभी प्रश्नों और समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध विश्व की समस्त भाषाओं से है।

भाषाविज्ञान शब्द मूल रूप में पाश्चात्य विद्वानों की देन है। प्राचीन समय में भाषाविषयक विभिन्न अंगों के अध्ययन के लिए अलग-अलग शब्द प्रचलित थे जैसे – शिक्षा, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य आदि। इनका सम्बन्ध भाषा के किसी अंग-विशेष से रहता था। भाषाविज्ञान को पाश्चात्य देशों में कई नाम दिये गये हैं। सर्वप्रथम इसे Comparative Grammar का नाम दिया गया। इस नाम को अधिक शुद्ध न मानकर Comparative Philology नाम दिया गया। भाषाविज्ञान सदा तुलनात्मक ही होता है। अतः

इसके लिए केवल Philology नाम अधिक पसन्द किया गया।

Philology शब्द आज तक प्रचलित है। अंग्रेज़ी में इसके लिए Science of language नाम भी चलता है। वर्तमान में इसका अधिक प्रचलित नाम Lingustics है। वह शब्द लेटिन के लिंगुआ Lingua, जीभ से बना है। भाषाविज्ञान के अर्थ में Lingustic नाम अंग्रेज़ी भाषा में लिया गया है।

प्राचीन समय में भाषाविज्ञान विषयक अध्ययन के लिए व्याकरण शब्दानुशासन, शब्दशास्त्र, निर्वचन शास्त्र आदि शब्द प्रचलित थे। वर्तमान समय में इस अर्थ में तुलनात्मक भाषाविज्ञान, भाषाविज्ञान, भाषाशास्त्र ये दो शब्द शास्त्र भाषिका आदि शब्द प्रचलित हैं। इनमें से भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र ये दो शब्द सबसे अधिक व्यवहृत हो रहे हैं। भाषाविज्ञान में भाषा सम्बन्धी सभी प्रकार के विवेचनों का समावेश हो जाता है। अतः भाषाविज्ञान शब्द अधिक प्रचलित है इधर कुछ समय से Linguistics शब्द का अधिक प्रचलन है। अतः उसके लिए भाषाशास्त्र शब्द का प्रयोग विशेष रूप से दृष्टिगोचर हो रहा है। भाषाविज्ञान और भाषाशास्त्र ये दोनों शब्द Philology और Linguistics के रूपान्तरण या भावानुवाद है।

भाषाविज्ञान की परिभाषा – भाषाविज्ञान या भाषाशास्त्र की भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने जो परिभाषायें दी हैं, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

1. **डॉ. भोला नाथ तिवारी** – भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन को ही भाषाविज्ञान कहते हैं। वैज्ञानिक अध्ययन से हमारा तात्पर्य सम्यक् रूप से भाषा के बाहरी और भीतरी रूप एवं विकास आदि के अध्ययन से है।

2. **डॉ. देवेन्द्र नाथ शर्मा** – ''भाषाविज्ञान का सीधा अर्थ है–भाषा का विज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशिष्ट ज्ञान। इस प्रकार भाषा का विशिष्ट ज्ञान। भाषाविज्ञान कहलायेगा।''

भाषाविज्ञान वह विज्ञान है, जिसमें भाषा का सर्वांगीण विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

भाषाविज्ञान का क्षेत्र – अन्य विज्ञानों के तुल्य भाषाविज्ञान का भी क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। भाषाविज्ञान का सम्बन्ध किसी एक भाषा से नहीं है,

इसका सम्बन्ध मानव मात्र की भाषा से है। विश्व की समस्त भाषाएँ भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आती हैं। समस्त भाषाओं का आदि भाषाविज्ञान के अन्तर्गत आते हैं। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में केवल साहित्यिक भाषाओं का ही अध्ययन नहीं होता, अपितु असभ्य, अर्धसभ्य एवं ग्रामीण लोगों की बोलियों का भी विशेष सावधानी के साथ अध्ययन किया जाता है। मानव-मात्र की भाषा से सम्बद्ध होने के कारण भाषाविज्ञान का सम्बन्ध मानवमात्र से है।

भाषाविज्ञान वर्तमान और अतीत दोनों प्रकार की भाषाओं का अध्ययन करता है। वह त्रैकालिक तथ्यों का अनुसन्धान करता है और उनका प्रकाशन करता है। मानव की प्रकृति का जितना सूक्ष्मता अध्ययन भाषाविज्ञान प्रस्तुत करता है उतना अन्य विज्ञान नहीं। भाषाविज्ञान एक ओर व्याकरण का कार्य करता है तो दूसरी ओर उसक दार्शनिक पक्ष को स्पष्ट करता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन तक ही सीमित न रहकर विज्ञान और शास्त्रों के अनेक अंगों तक व्याप्त है। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में उसके सभी अंग सम्मिलित हैं।

2. भाषा विज्ञान के प्रमुख तथा गौण अंगों का वर्णन कीजिए।

अथवा

भाषाविज्ञान की विभिन्न शाखाओं को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर – भाषाविज्ञान भाषा का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करता है, अतः उसमें भाषा के सभी घटकों का अध्ययन होता है। भाषा शब्द के द्वारा उसके चार घटकों का मुख्य रूप से बोध होता है–(1) ध्वनि (Sound), (2) पद या शब्द (Form)] (3) वाक्य (Sentence)] (4) अर्थ (Meaning) । भाषा की सबसे छोटी इकाई ध्वनि है। उसका ही सर्वप्रथम उच्चारण होता है। अनेक ध्वनियों से मिलकर पद या शब्द बनता है। अनेक पदों से वाक्य की रचना होती है और वाक्य से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। इनमें से प्रत्येक के विशेष अध्ययन के कारण भाषाविज्ञान के 4 प्रमुख अंग विकसित हो गये हैं–

(1) ध्वनिविज्ञान (Phonology) – इसमें भाषा के मूल तत्त्व ध्वनि का व्यापक अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से इन विषयों का

संकलन होता है—ध्वनि क्या है? ध्वनियाँ कितनी हैं? इनका वर्गीकरण किस प्रकार किया जाता है? ये ध्वनियाँ कैसे और कहाँ से उत्पन्न होती हैं? किस प्रकार ध्वनियों का सम्प्रेषण होता है? ध्वनियों के भेद का क्या कारण है? एकाधिक ध्वनियों के संयोग से क्या परिवर्तन होते हैं? ध्वनियों में तीव्रता और मन्दता क्यों आती है? ध्वनि-नियम क्या है? स्वनिम-स्वनिमों आदि का निरूपण करना।

2. पदविज्ञान (Morphology) – अनेक ध्वनियों के समन्वय से पद या शब्द बनता है। पद-विज्ञान को रूप-विज्ञान रूप-विचार और पद-विचार भी कहा जाता है। इसमें पद या रूप क्या है? पद कैसे बनता है? पद के घटक अवयव क्या है? पदों का विभाजन किस आधार पर होता है? लिंग, विभक्ति, वचन, पुरुष, काल, प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि तत्त्व क्या है? इनकी क्या उपयोगिता है? शब्द और पद में क्या अन्तर होता है? पद-निर्माण कितने प्रकार का होता है? इत्यादि विषयों का पद-विज्ञान में विवेचन किया जाता है।

3. वाक्यविज्ञान (Syntax) – जिस प्रकार विभिन्न ध्वनियों के समन्वय से पद या रूप बनता है, उसी प्रकार विभिन्न पदों या रूपों के समन्वय से वाक्य बनता है। वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना किस प्रकार होती है? वाक्य में पदों का अन्वय (आपसी सम्बन्ध) प्रकार होता है? अन्वय का आधार क्या है? कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का किस स्थान पर निवेश होता है? अन्वय का आधार क्या है? कर्ता, क्रिया, कर्म आदि का किस स्थान पर निवेश होता है? वाक्य के कितने भेद हैं? इत्यादि बातों का विवेचन किया जाता है। वाक्य-विज्ञान को वाक्य-विचार, वाक्य-रचना-शास्त्र भी कहा जाता है। वाक्य-विज्ञान को 3 भागों में विभक्त किया गया है—

(1) वर्णनात्मक वाक्य विज्ञान (Descriptive Syntax)

(2) ऐतिहासिक वाक्य-विन्यास (Historical Syntax)

(3) तुलनात्मक वाक्य-विन्यास (Comparative Systax)

वर्णनात्मक वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना का सामान्य विवरण प्रस्तुत किया जाता है। ऐतिहासिक वाक्य-विज्ञान में वाक्य की रचना का इतिहास दिया जाता है और तुलनात्मक वाक्य-विज्ञान में दो या अनेक

भाषाओं के वाक्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है ।

4. अर्थ-विज्ञान (Semantics) – जिस प्रकार मानव-शरीर का सारभाव आत्मा है, उसी प्रकार भाषा रूपी शरीर की आत्मा अर्थ है । अर्थ-विज्ञान को अर्थ-विचार भी कहते हैं । इसमें अर्थ किसे कहते हैं ? शब्द और अर्थ का क्या सम्बन्ध है ? अर्थ का निर्धारण कैसे हुआ ? अर्थ परिवर्तन क्यों और कैसे होता है ? अर्थ-परिवर्तन की क्या दिशायें हैं ? अर्थ-परिवर्तन के क्या कारण हैं ? इत्यादि बातों पर विचार किया जाता है । इसका भी समकालिक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक तीनों रूपों में अध्ययन हो सकता है । इसमें पर्यायवाची शब्द, नानार्थक शब्द, विलोम शब्द आदि का भी विवेचन किया जाता है ।

भाषाविज्ञान के गौण अंग – यद्यपि प्रमुख रूप से भाषाविज्ञान के उपर्युक्त चार अंग ही हैं, परन्तु भाषाविज्ञान में कतिपय अन्य विषयों पर भी विवेचन किया जाता है । उन्हें इसका गौण अंग समझना चाहिए इनमें विशेष उल्लेखनीय ये अंग है–

1. भाषा की उत्पत्ति (Origin of Language) – इसमें भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई ? इस विषय में भाषा-शास्त्रियों का क्या मत है ? भाषा का विकास कैसे हुआ ? आदि बातों पर विवेचन किया जाता है ।

2. भाषाओं का वर्गीकरण (Classificaton of Languages) – संसार की विभिन्न भाषाओं का रूप या आकृति के आधार पर तथा भौगोलिक आधार पर अलग-अलग वर्गों में विभक्त किया गया है । रूप के आधार पर होने वाले वर्गीकरण को रूपात्मक या आकृतिमूलक वर्गीकरण कहते हैं और भौगोलिक आधार पर होने वाले वर्गीकरण को पारिवारिक वर्गीकरण या ऐतिहासिक वर्गीकरण कहते हैं । इस आधार पर निश्चित किया जाता है कि कौन-कौन सी भाषायें किस वर्ग में आती हैं । उनकी समानताओं और विषमताओं का भी इसमें अध्ययन किया जाता है ।

3. कोश-विज्ञान (Lexicology) – इस विज्ञान में कोश रचना का प्रकार बताया जाता है । शब्दों का अर्थ कैसे निर्धारित किया जाता है ? प्रत्येक शब्द का किन अर्थों में प्रयोग होता है ? एकार्थक, अनेकार्थक, विषमार्थक शब्द की व्याख्या आदि इस विज्ञान का अंग है । व्युत्पत्ति-शास्त्र (Erymology) भी कोश-विज्ञान के अन्तर्गत आता है । व्युत्पत्ति-शास्त्र के

लिए संस्कृत का 'निरुक्त' शब्द प्रचलित है। इसकी वेद के षडंगों में गणना है। कोश विज्ञान में निर्वचन-शास्त्र का पूरा उपयोग होता है, अतः व्युत्पत्ति-शास्त्र को कोश विज्ञान के अन्तर्गत माना जाता है।

4. लिपि-विज्ञान (Graphonomy] Graphics) – इसमें लिपि की उत्पत्ति विकास, और उसकी उपयोगिता आदि पर विचार किया जाता है। लिपि के आधार पर ही किसी भाषा का अध्ययन किया जाता है, अतः इसे भी भाषाविज्ञान का अंग माना जाता है।

5. भाषिक भूगोल (Linguistic Geography) – इसमें भौगोलिक दृष्टि से भाषा का अध्ययन किया जाता है। विश्व के किन-किन भागों में कौन-कौन सी भाषायें बोली जाती हैं? किस भाषा का कितना व्यापक क्षेत्र है? उसकी कितनी बोलियाँ और उपबोलियाँ हैं? उनकी निश्चित सीमाएँ क्या हैं? इसका अध्ययन किया जाता है। बोली भूगोल (Dialect Geography) नामक प्रसिद्ध शाखा इसी के अन्तर्गत आती हैं।

6. प्रागैतिहासिक खोज (Linguistic Palaeontology) – इसमें भाषाविज्ञान के आधार पर प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन किया जाता है। भाषा विज्ञान ही एकमात्र साधन है जिसके द्वारा प्राचीन संस्कृतियों का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। यह शाखा अभी तक शैशवास्था में है।

7. शैली-विज्ञान (Stylistics) – भाषाविज्ञान की यह नवीन, किन्तु महत्त्वपूर्ण शाखा है। इसमें अध्ययन किया जाता है कि किसी भाषा के लेखक या कवि आदि भाषा के किन शब्दों को मुख्य रूप से अपनाते हैं। उनकी शैली की क्या विशेषताएँ हैं? इस विज्ञान के द्वारा लेखक, कवि और वक्ता का मनावैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। व्यक्तिगत अन्तर और शैली-सम्बन्धी अन्तर का अध्ययन शैली-विज्ञान का विषय है।

8. भू-भाषाविज्ञान (Geo-Linguistics) – इसमें विश्व की भाषाओं का विभाजन तथा उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव का संग्रह किया जाता है। साथ ही विभिन्न देशों की संस्कृतियाँ किस प्रकार भाषा को प्रभावित करती हैं, इसका वर्णन रहता है। राजभाषा एवं जनभाषा आदि समस्याओं का भी इसके अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है।

9. समाज भाषाविज्ञान (Socio-Linguistics) – इसमें भाषा और समाज का सम्बन्ध तथा समाज के विभिन्न स्तरों पर प्रयुक्त भाषा की ध्वनि, रूप वाक्य और अर्थ आदि की विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है ।

10. मनोभाषाविज्ञान (Psycho-Linguistics) – इसमें भाषा और विचार का सम्बन्ध, भाषा का मानस-पटल पर प्रभाव, भाषा और अनुभूति आदि मनोवैज्ञानिक पक्ष का अध्ययन किया जाता है ।

भाषाविज्ञान के उपांग – इसके अतिरिक्त भाषा का कुछ विभिन्न दृष्टिकोणों से भी अध्ययन किया जाता है । ये भाषाविज्ञान के उपांग कहे जा सकते हैं–

1. भाषाविज्ञान के इतिहास का अध्ययन – इसमें भारत एवं पाश्चात्य देशों में हुए भाषा वैज्ञानिक अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत किया जाता है ?

2. बोली-विज्ञान (Dialectology) – इसमें विभिन्न बोलियों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है ।

3. सूर-विज्ञान (Tonetics) – इसमें विभिन्न भाषाओं के सुर या टोन के आधार पर क्या परिवर्तन होते हैं ? किस प्रकार अर्थों में परिवर्तन होता है ? भाषा में टोन का क्या महत्त्व है ? आदि का अध्ययन किया जाता है ।

4. भाषा-विकास (Linguistics-Phylogeny) – इनमें भाषा में होने वाले परिवर्तन और विकास के कारणों का अध्ययन और विवेचन किया जाता है ।

5. भाषा-प्रकार-विज्ञान (Linguistic-Typology) – इसमें रूपात्मक आधार पर भाषाओं का वर्गीकरण किया जाता है । इसकी अधिकांश विशेषतायें आकृतिमूलक वर्गीकरण के तुल्य हैं ।

6. भाषिक पुनर्निमाण (Linguistic Reconstruction) – इसमें एक परिवार की दो या अनेक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है कि इन भाषाओं की मूल भाषा क्या थी । इस प्रकार के अध्ययन से ही इन्डोयूरोपियन (भारोपीय) और इण्डोहिट्टाइट आदि अज्ञात भाषाओं का पुनर्निमाण किया गया है ।

3. भाषा विज्ञान के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियों (प्रणालियों प्रकार) का संक्षिप्त परिचय दें।

उत्तर – वस्तुतः भाषा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन ही भाषा विज्ञान है और किसी भी विषय का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन तभी सम्भव हो सकता है जब एक निश्चित् प्रक्रिया को अपनाकर उसमें प्रवाहित होते हैं। भाषा विज्ञान की किसी भाषा कारण कार्य मूलक, युक्तिपूर्ण विवेचन-विश्लेषण के लिये कुछ निश्चित् प्रक्रियाओं में बंधकर चलता है। उन्हीं प्रक्रियाओं के आधार पर अभी तक भाषा विज्ञान के अध्ययन के अधोलिखित पाँच पद्धतियाँ हैं–

(1) वर्णात्मक पद्धति – जिसमें किसी एक भाषा के किसी एक ही काल के स्वरूप की व्याख्या हो। किसी विशेष काल में किसी भाषा में कितनी ध्वनियाँ थी। पद रचना कैसी थी? वाक्य रचना कैसी थी ? आदि का इसमें विस्तार से वर्णन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से उसे विशिष्ट भाषा का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। पाणिनि कृत ''अष्टाध्यायी'' इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं इसके अतिरिक्त ग्लिसरीन ने अपनी पुस्तक An introduction to descriptive linguistic में इसके विषय में समुचित रूप से प्रकाश डाला है।

(2) ऐतिहासिक पद्धति – जिसमें किसी एक भाषा का उसके विभिन्न अंगों, ध्वनि, पद रचना, वाक्य रचना आदि के क्रमिक विकास का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार के अध्ययन से किसी भाषा के प्राचीन काल के असाहित्यिक आदि रूपों का परिचय मिल जाता है। भाषा के इस प्रकार के ऐतिहासिक अध्ययन में प्राचीन साहित्य पुरातन ग्रंथ, शिलालेख आदि सभी अध्ययन के साधन बन जाते हैं। 19वीं शताब्दी का युग ऐतिहासिक भाषा के विज्ञान का 'स्वर्णयुग' माना जाता है।

(3) तुलनात्मक पद्धति – जिस पद्धति में किन्हीं दो या दो से अधिक भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है। जिन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाता है जिन भाषाओं को अध्ययन का विषय बनाया जाता हैं उनके विभिन्न अर्थों की तुलना किसी एक काल के आधार पर अथवा विभिन्न कालों के आधार पर की जाती है। यद्यपि आधुनिक युग में

18वीं शताब्दी के अंत में जौन द्वारा इसका सूत्रपात हो गया था। किन्तु इसका पूर्ण विकास भी 19वीं शताब्दी में ही हुआ है। उन दिनों भाषा विज्ञान का नाम ही तुलनात्मक भाषा विज्ञान पड़ गया था। जैसे संस्कृत, पालि, प्राकृत या हिन्दी का तुलनात्मक अध्ययन आदि इसके अनेकों आधार हैं।

(4) संरचनात्मक पद्धति – यह प्रणाली है जिसमें भाषा में प्रयुक्त सभी तत्त्वों का पारस्परिक विशेष संदर्भ में क्रमशः अध्ययन किया जाता है। भाषा विज्ञान के जेनेवा स्कूल से सम्बन्धित स्विटजरलैंड के निवासी 'दिस्पचूर' को संरचनात्मक भाषा-विज्ञान का जनक कहा जाता है। पहले जेनेवा स्कूल और उसके बाद प्राहार स्कूल इस भाषा विज्ञान का केन्द्र रहा है। आजकल पाश्चात्य देशों में इस पर पर्याप्त कार्य हो रहा है। भाषा के अध्ययन में संरचनात्मक भाषा विज्ञान से गणित के समान ही निश्चित् निर्णय प्राप्त होते हैं। इसका नाम गद्यात्मक विज्ञान भी है।

(5) प्रायोगिक पद्धति – इसमें चारों पद्धतियों को प्रयोग में लाना सिखाया जाता है। या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है या उनका व्यावहारिक ज्ञान करवाया जाता है। देशी अथवा विदेशी भाशा को सिखाने की पद्धति उच्चारण की प्रक्रिया एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करने की शैली भाषा अध्ययन अविष्कृत यंत्रों एवं उपकरणों का व्यावहारिक ज्ञान भाषा सर्वेक्षण पद्धति आदि भी प्रायोगिक ज्ञान के अन्तर्गत है। भाषा विज्ञान की यह पद्धति आधुनिकतम तथा इसका विकास भी अभी हो रहा है।

इस दृष्टि से विचार करने पर संक्षेप रूप से इतना ही कहा जा सकता है कि भाषा विज्ञान के अध्ययन की विभिन्न पद्धतियाँ हैं जिनमें वर्णात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक, संरचनात्मक प्रायौगिक आदि मुख्य हैं। जिस भाँति भाषा अबाध गति से बहती रहती है उसी प्रकार भाषा विज्ञान की धार भी निरंतर गति से इसका विश्लेषण करती रहती है और इसमें नई नई उद्भावना का होना स्वाभाविक ही है।

4. भाषा विज्ञान की परिभाषा देकर उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालें।

उत्तर – विधाता की सृष्टि अत्यंत अद्भुत अद्वितीय है। इसलिये विभिन्न विद्वानों ने भाषाविज्ञान की विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। किसी ने इसको

Comparative Grammar, किसी ने Linguistic Grammar, किसी ने Linguistic किसी ने Glottalogy या Science of Tongue की विभिन्न संज्ञाओं से अभिहित किया है । ज्ञान का अर्थ है किसी वस्तु का सामान्य ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है किसी वस्तु का विशेष ज्ञान । इसी प्रकार philology शब्द मूलतः यूनानी भाषा का शब्द है । यह शब्द phi+logos से बना है । phil का अर्थ है word और Logos का अर्थ है science । इस प्रकार सारे शब्द का अर्थ हुआ – Science of words. अतः philology भाषा विज्ञान के लिये एक शब्द है । डॉ. श्याम सुन्दर दास ने भाषा विाान की परिभाशा इस प्रकार की है–

भाषा विज्ञान भाषा की उत्पत्ति भाषा की बनावट, उसके विकास तथा उसके ह्रास की वैज्ञानिक व्याख्या करता है ।

अतः भाषा विज्ञान वह विज्ञान है जिसके अध्ययन से किसी भी भाषा का वैज्ञानिक एवं विशेष ज्ञान हो जाता है ।

भाषा विज्ञान की उपयोगिता–

मानव व समाज का कल्याण करना प्रत्येक विज्ञान का उद्देश्य हे तो उसने मानव जाति की संस्कृति की समृद्धि होती है । भाषा विज्ञान भी इस दिशा में किसी में किसी विज्ञान से कम नहीं है । भाषा विज्ञान की उपयोगिता को अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है–

1. प्रागैतिहासिक अनुसंधान – भाषा विज्ञान के अध्ययन से प्रागैतिहासिक काल की सभ्यता एवं संस्कृति का ज्ञान होता है, जिस बात का इतिहास प्राप्त नहीं है । उस काल की जानकारी उस समय भाषा में प्रचलित शब्दों, वाक्यों आदि के आधार पर एक सीमा तक प्राप्त हो सकती है ।

2. बौद्धिक ज्ञान-पिपासा – मानव स्वभावतः जिज्ञासु है । जब मानव साहित्य का अध्ययन करता है तो उसके मन में अनेक प्रकार के भाव आते हैं । यह उन भावों की वृद्धि कर अनेक प्रकार की भाषा सम्बन्धी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है ।

3. विश्व बन्धुत्व की भावना – यह विश्व-बन्धुत्व की भावना पैदा करता

है क्योंकि भाषा शास्त्री किसी एक भाषा से संबंधित न रहकर अनेक भाषाओं को सम, उदार एवं आदर की भावना से देखता है जिससे उसमें मानवता की भावना उत्पन्न होती है ।

4. भाषा विज्ञान एवं विभिन्न शास्त्र – इसका विषय क्षेत्र अत्यंत विशाल है । उसका सम्बन्ध एक भाषा से न रहकर, विश्व की किसी भी भाषा से हो सकता है । इसका ज्ञान के अनेकों विषयों से संबंध होने के कारण वह इतिहास मनोविज्ञान, दर्शन, साहित्य आदि की सहायता से अपने ज्ञान को वैज्ञानिक एवं तर्कसम्मत बना सकता है ।

5. व्याकरण का दिशा-निर्देशन – इसका सम्बन्ध व्याकरण व साहित्य से है जिससे इसे विश्लेषण के शब्द वाक्य जैसी आवश्यक सामग्री व विश्लेषण के शब्द वाक्य जैसी आवश्यक सामग्री व विश्लेषण के नियम आदि प्राप्त होते हैं ।

6. भाषा विकास व अध्ययन में सहायता – इसके अध्ययन से विश्व की विभिन्न भाषाओं के विकास में सहायता मिलती है । दूसरे विदेशी भाषा को सीखने में उसकी ध्वनियों, उच्चारण, स्थानों, शब्दों आदि का ज्ञान को समझने में हमें आसानी हो जाती है ।

7. उच्चारण में सहायता – इसके द्वारा हमें किसी भी भाषा को सीखने व उसका उचित उच्चारण में सहायता मिलती है ।

8. टंकण कार्य में सहायता – यह विज्ञान टंकण कार्य रूपांतर आदि के कार्य में हमारी प्रचुर सहायता करता है ।

9. लिपि की शुद्धता – भाषा विज्ञान की क्लिष्टता से हमें बचाकर सरलता एवं शुद्धता की ओर ले जाता है । भाषा-सम्बन्धी अनेक समस्याओं को सुलझाता है । इस प्रकार लिपि की शुद्धता व वैज्ञानिकता के विकास में भी हमारी सहायता करता है ।

10. प्राचीन साहित्य के अध्ययन में सहायता – प्राचीन साहित्य के अर्थ प्राप्ति में भाषा विज्ञान हमारी सहायता करता है । इसी प्रकार अनेक उच्चारण एवं प्रयोग ऐसे भी है जिनका सही प्रयोग हमारे ज्ञान के बाहर होता है और हम

अर्थ का अनर्थ करने के आदी हो जाते हैं । यह शास्त्र इन सभी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है ।

11. शब्दकोश का निर्माण – आज किसी भाषा की वैज्ञानिक लिपि, शब्दकोष, व्याकरण आदि के निर्माण में भाषा विज्ञान पूर्ण सहायता करता है ।

12. तुलनात्मक अध्ययन का प्रेरक – भाषा विज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर आज तुलनात्मक विज्ञान का श्रीगणेश हो गया है । यहाँ तक कि अनेक धर्मों के मतों का तुलनात्मक अध्ययन होने लगा हैं

अतः ऊपरलिखित विवेचन एवं विश्लेषण के आधार पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भाषा विज्ञान आधुनिक युग में एक अत्यंत उपयोगी विषय बन चुका है ।

5. आधुनिक भारतीय भाषा विज्ञान का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।

उत्तर – आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान से तात्पर्य है, भारत की आधुनिक भाषाओं के सम्बन्ध में किया गया कार्य । अन्य ज्ञान विज्ञानों के समान ही इस क्षेत्र में भी आधुनिक भारतीय विचारधारा पर यूरोपीय प्रभाव है । प्राचीन काल के भाषा सम्बन्धी विवेचन जेसा मौलिक चिन्तन इसमें नहीं है । आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान यूरोपीय परम्परा का अनुगामी है । आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान की दो विशेषताएँ प्रमुख हैं–यह मात्रा में प्राचीन भारतीय भाषा सम्बन्धी विवेचन की अपेक्षा पर्याप्त अधिक है और भारत की प्रायः सभी साहित्यिक भाषाओं में यह कार्य हुआ है । आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान सम्बन्धी कार्य का या योगदान का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

1. बिशप कॉडवेल (Rt. Robert Caldwell) – इन्होंने द्रविड़ भाषाओं का विस्तृत और गहन अध्ययन किया था । इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'A Comparative Grammar of the Dravidian or South Indian Family of Languages' (द्रविड़ भाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण) है । सन् 1856 में मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा यह प्रकाशित किया गया था जिससे इसकी उपयोगिता का अनुमान सहज ही किया जा सकता है ।

2. जॉन बीम्स (John Beames) –बीम्स ने हिन्दी, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगला आदि आधुनिक भाषाओं के व्याकरणों का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। आपका प्रसिद्ध ग्रंथ 'Comparative grammar of the Modenrn Aryan Languages of India' है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं–ध्वनि, संज्ञा तथा सर्वनाम और क्रिया। इन तीनों भागों का प्रकाशन क्रमशः सन 1872, 1875 तथा 1879 में हुआ था। इस ग्रंथ की मुख्य विशेषताएँ हैं–इसकी भूमिका तथा इसमें दिये गये उदाहरण। भारतीय आर्यभाषाओं के व्याकरणों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री इस ग्रंथ में उपलब्ध है। आपका दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'Outlines of Indian Philology' है, जिसमें भारतीय भाषाविज्ञान की रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है।

3. डॉ. ट्रम्प (Dr. Ernst Trump) – इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, सिन्धी और पश्तो आदि भाषाओं का विस्तृत अध्ययन किया था। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ है–'Grammar of the Sindhi Language Compared with the Sanskrit, Prakrit and the Congnate Indian Vernaculars' (संस्कृत, प्राकृत तथा सम्बद्ध भारतीय भाषाओं से सिन्धी भाषा के व्याकरण की तुलना), इसका प्रकाशन सन् 1872 में हुआ तथा इसके एक वर्ष बाद इन्होंने दूसरे ग्रंथ 'Pashto Grammar' (पश्ती व्याकरण) का प्रकाशन कराया।

4. पादरी-कैलॉग (Reb. S.H. Kellogg) – इन्होंने 'Grammar of the Hindi Language' नामक ग्रंथ सन् 1876 में लिखा था। इस ग्रंथ में साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी का व्याकरण मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। किन्तु उसके साथ तुलना करते हुए ब्रजभाषा, अवधी भाषा, राजस्थानी, बिहारी आदि भाषाओं से सम्बन्धित सामग्री भी पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुई है। प्रत्येक अध्याय के अन्तिम भाग में व्याकरण के प्रमुख रूपों का संक्षिप्त इतिहास इस ग्रंथ की एक अन्य विशेषता है।

5. डॉ. सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर – भण्डारकर संस्कृत के प्रगाढ़ विद्वान् होने के साथ आधुनिक यूरोपीय भाषाविज्ञान पद्धति से भी भली-भाँति परिचित थे। आपने प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं पर

आधुनिक दृष्टि से विचार किया है। सन् 1877 में आपने बम्बई विश्वविद्यालय में 'बिल्सन फिलोलोजीकल लेक्चर्स' व्याख्यान माला के अन्तर्गत भारतीय आर्यभाषाओं पर सात व्याख्यान दिये थे, जो 1914 ई. में ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुए। ये व्याख्यान प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं पर ही है, किन्तु आधुनिक आर्यभाषाओं से सम्बन्धित सामग्री भी इनमें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। मूल रूप से ये व्याख्यान अंग्रेज़ी में हैं, किन्तु इनका हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। आधुनिक भारतीय भाषाविज्ञान के क्षेत्र में डॉ. भण्डारकर सर्वप्रथम भाषाविज्ञानी माने जाते हैं।

6. डॉ. हार्नले (Dr. Rudolf Hoernle) – डॉ. हार्नले का विख्यात ग्रंथ 'Grammar of the Eastern Hindi, compared with the Other Gaudian Languages' है। यह सन् 1810 में प्रकाशित हुआ था। इन्होंने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बिहारी तथा अवधी को ही पूर्वी हिन्दी कहा है। भोजपुरी पर विस्तृत विचार तथा आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित ऐतिहासिक एवं तुलनात्क सामग्री इस ग्रंथ की अन्य विशेषताएँ हैं।

7. ग्रियर्सन (Sir George Abraham Grienson) भारतीय भाषाओं पर कार्य करने वाले यूरोपीय विद्वानों में ग्रियर्सन का नाम अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इनका प्रमुख कार्य प्रशासनिक था, क्योंकि एक आई. सी. एस. ऑफीसर के रूप में हो ये बिहार में नियुक्त हुए थे। प्रशासन का कार्य करते हुए भी इन्होंने भारतीय भाषाओं के अध्ययन में विशेष रुचि ली। यद्यपि इनका प्रथम ग्रंथ 'Seven Grammar of Behari Language' था, जो 1883 से 1887 ई. तक प्रकाश में आया था तथापि Linguistic Survey of India' ग्रंथ के कारण ही इन्हें सर्वाधिक यश प्राप्त हुआ है। इसकी रचना में इन्हें 33 वर्ष लगे थे। इस ग्रंथ के ग्यारह भाग हैं जिनमें प्रत्येक अध्याय के तीन या चार खण्ड हैं। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय उत्तरी भारत की सभी आधुनिक भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों का उदाहरण सहित विवेचन है। उनका संक्षिप्त व्याकरण भी दिया गया है। इस ग्रंथ की महत्त्वपूर्ण भूमिका में भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास भी दिया है, जो बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है। इस बृहद् ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद भी उपलब्ध है जो

डॉ. उदयनारायण तिवारी द्वारा किया गया है। इन्होंने पेशाची तथा कश्मीरी भाषा पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रचे हैं। इनका एक अन्य ग्रंथ 'कश्मीरी-कोश' सन् 1924 में प्रकाशित हुआ था।

8. टर्नर (Sir Raloh L. Turner) – इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'Nepali Dictionary' है, जिसका प्रकाशन सन् 1931 में हुआ था। इस ग्रंथ में पहली बार आर्य-भाषाओं के शब्द-समूह का तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक भाषा में उपलब्ध शब्दों की सूचियाँ इस ग्रंथ की दूसरी विशेषता है। इसे विद्वानों ने भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित सर्वप्रथम नैरुक्तिक कोश कहा हैं इसमें 212 भाषाओं को आधार बनाया गया है। इनका दूसरा ग्रंथ 'Comparative Dictionary of the Indo Aryan Languages' है। इस ग्रंथ के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् 1962 में हुआ है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से टर्नर महोदय के दोनों ही ग्रंथ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इसके अलावा टर्नर ने गुजराती ध्वनि-समूह, मराठी स्वराघात तथा सिन्धी भाषा पर भी कार्य किया।

9. ज्यूल ब्लॉख (Jule Block) – इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'La Formation de La Language marathe' (मराठी भाषा का रचना) सन् 1919 में प्रकाशित हुआ था। किसी एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर कार्य करने वालों के मार्ग-प्रदर्शन के लिए ब्लॉख महोदय का यह ग्रंथ बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता हैं इस ग्रंथ के अतिरिक्त इनके दो अन्य ग्रंथ भी बहुत उपयोगी हैं– La Indo 'Aryan' (भारतीय आर्यभाषा), जो सन् 1934 में प्रकाशित हुआ तथा Structure Grammaticle des Languages Dravidie nes' (द्रविड़ भाषाओं का व्याकरणिक गठन)।

आर्यभाषा संस्कृत पर कार्य करने वाले विद्वान्

1. डॉ. लक्ष्मणस्वरूप – इन्होंने यास्क द्वारा रचित 'निरुक्त' पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। निरुक्त के आधुनिक अध्येताओं में पश्चिमी विद्वान् रॉथ तथा भारतीय विद्वान् डॉ. लक्ष्मणस्वरूप इन दो विद्वानों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ. लक्ष्मणस्वरूप के कार्य से पूर्व यद्यपि निरुक्त का सम्पादन हो चुका था तथा विभिन्न हस्तलिखित प्रतियें को इसका आधार बनाया गया था, किन्तु इसका कोई प्रामाणिक एवं विशुद्ध पाठ तब तक भी

उपलब्ध नहीं था। डॉ. लक्ष्मणस्वरूप ने अथक परिश्रम एवं गहन अध्यवसाय से निघण्टु और निरुक्त दोनों का प्रामाणिक एवं विशुद्ध पाठ के साथ सम्पादन किया है। साथ ही बहुत विद्वतापूर्ण टिप्पणियाँ भी प्रस्तुत की हैं। इसी प्रकार निरुक्त पर स्कन्द स्वामी द्वारा किये गये भाष्य का भी एक अच्छा संस्करण इनके द्वारा प्रकाश में लाया गया है। यद्यपि डॉ. लक्ष्मणस्वरूप के सभी कार्य महत्त्वपूर्ण हैं, तथापि उसका माध्यम अंग्रेज़ी भाषा होने के कारण हिन्दी एवं संस्कृत के पाठक उससे प्रत्यक्ष रूप से अधिक लाभान्वित नहीं हो सके हैं।

2. श्री वी.के. राजवाडे – श्री राजवाडे ने 'निघण्टु' के केवल तीन अध्यायों पर अंग्रेज़ी भाषा में टीका-टिप्पणी प्रस्तुत की है। इनका दृष्टिकोण यास्क में अनेक त्रुटियाँ ढूंढना रहा है। इनके अनुसार यास्क का निरुक्त केवल अटकलबाजी है, कोई सारभूत निर्वचन नहीं है। वास्तव में अनके स्थानों पर राजवाडे यास्क को भली प्रकार समझ नहीं सके हैं। जहाँ भी उन्हें असुविधा हुई है या सूक्ष्म विवेचन की आवश्यकता पड़ी है, वे उसका सारा दोष यास्क के ही मत्थे मढ़ देते हैं। इतना होने पर भी उनका अध्ययन निरुक्त के पाठकों के लिए उपयोगी रहा है।

3. डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा – संस्कृत भाषा पर भाषावैज्ञानिक दृष्टि से कार्य करने वालों में डॉ. वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इनकी दो प्रमुख रचनाएँ हैं–'एनीलिसिस ऑफ मोनिंग इन इण्डियन सेमेण्टिक्स' तथा 'फॉनेटिक आब्जरवेशन ऑफ एन्शियेन्ट इण्डियन ग्रामेरियन्स'। पहली रचना का सम्बन्ध अर्थ-विचार से है तथा दूसरी का ध्वनि-विचार से। प्रथम में यास्क को आधार माना गया है तथा दूसरी में भारत के प्राचीन शिक्षाविदों को। डॉ. वर्मा ने अपनी रचना में 65 शिक्षा ग्रंथों होने का उल्लेख किया है। अर्थविचार-सम्बन्धी इनकी रचना रॉथ ने 'वोर्टेर बूख' नामक शब्दकोश से कुछ मिलती-जुलती है तथा उसमें तुलनात्मक पद्धति को अपनाया गया है।

4. डॉ. भोलाशंकर व्यास –इन्होंने 'संस्कृत' का भाषा शास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तक में आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृत का विवेचन किया है। साथ ही इसमें भारोपीय भाषावैज्ञानिक सामग्री का तुलनात्मक परिचय भी मिल जाता है। संस्कृत से होने वाले आधुनिक

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास पर भी इसमें उत्तम सामग्री उपलब्ध होती है । इसकी रचना प्रो. टी. बरो की 'संस्कृत लैंग्वैज' से मिलती जुलती है ।

5. डॉ. कपिलदेव द्विवेदी – इनका ग्रंथ 'अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन' शोधपरक है, जिसमें 'निरुक्त' को आधार बनाया गया हैं अपने विवेचन में डॉ. द्विवेदी ने प्राचीन और नवीन सभी उपलब्ध सामग्री का सदुपयोग शास्त्रीय दृष्टिकोण से किया है । यह विवेचन पर्याप्त विस्तृत है ।

6. डॉ. सत्यकाम वर्मा – आपका ग्रंथ 'भाषातत्व और वाक्यपदीय' भर्तृहरि को आधार बनाकर किया गया शोधकार्य है । आपका दृष्टिकोण भाषावैज्ञानिक है तथा आपने अपने विवेचन में आधुनिक पाश्चात्य भाषा-विवेचकों की तुलना में भारत के प्राचीन भाषा-विवेचक भर्तृहरि की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयास किया है ।

7. बंगला – डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, सुकुमार सेन, हेमन्तकुमार सरकार आदि । डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने बंगला भाषा पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है । 'Origin and Development of Bengali Language' (बंगला भाषा का उद्‌भव और विकास) नामक ग्रंथ सन् 1921 में लन्दन विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट्. की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था । इसके अतिरिक्त भी बंगला भाषा पर इनके कई निबन्ध प्रकाशित हुए हैं । बंगला भाषा के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी राजस्थानी आदि पर भी कार्य किया है । 'Indo-Aryan and Hindi' (भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी) इनकी महत्वपूर्ण पुस्तक है । इस प्रकार बंगला-भाषा तथा भाषाशास्त्र के क्षेत्र में डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

3. भारत में भाषा अध्ययन की प्राचीन परम्परा

1. वेदांग निरुक्त का वर्णन कीजिए

अथवा

ऋषि याचक का परिचय देते हुए उनकी कृति निरुक्त की उपयोगिता पर प्रकाश डालिए।

उत्तर – 'निरुक्त' का शाब्दिक अर्थ है–व्युत्पत्ति या निर्वाचन। इसमें शब्दों के अर्थतत्व तथा सम्बन्धतत्व पर विचार करते हुए यह निश्चय किया जाता है कि किसी शब्द का कोई अर्थ क्यों है। मनुष्य जब किसी विशेष भाव को किसी विशेष शब्द द्वारा व्यक्त करता है, तो उसके मूल में कोई न कोई कारण होता है। उस कारण को खोजना ही उस शब्द की निरुक्ति का निर्वचन कहलाता है तथा इस निरुक्ति में सम्बन्धित शास्त्र को ही 'निरुक्त' कहा जाता है। शिक्षा की भाँति ही 'निरुक्त' भी छः वेदांगों में से एक है। निरुक्त का प्राचीन लक्षण इस प्रकार है।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारानाशी।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

उपर्युक्त लक्षण के अनुसार 'निरुक्त' की परिधि में ध्वनि, पद तथा अर्थ – इन तीनों का ही विवेचन आ जाता है। इस प्रकार यह आधुनिक भाषाविज्ञान का ही प्राचीन रूप है, जिसका उदय हमारे देश में वैदिक काल में ही हो गया था।

यद्यपि वर्तमान समय में यास्ककृत एक ही 'निरुक्त' उपलब्ध होता है, तथापि उसकी परिपक्व शैली तथा प्रतिपादित विषय को देखने से ही अनुमान होता है कि यह एक सुदीर्घ परम्परा का ही परिणाम है। यह संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में प्राप्त निर्वचन की प्रवृत्ति की बात को भी छोड़ दिया जाए, तो भी यास्क से पूर्व अनेक निरुक्तकारों के नाम मिलते हैं–आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णनाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैटीकि, पार्ष्यायणि, शतवलाक्ष, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल्य तथा स्थौलाष्ठीवि।

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से यास्क का 'निरुक्त' वैदिक शब्दों के केश 'निघण्टु' नामक ग्रंथ की ही व्याख्या है। समय के व्यवधान से जब वैदिक भाषा क्लिष्ट हो गयी, तो संहिताओं के कठिन-कठिन शब्दों का संकलन 'निघण्टु' नामक वैदिक कोशों में किया गया था। ऐसा ही एक 'निघण्टु' यास्क के 'निरुक्त' के प्रारम्भ में जुड़ा हुआ है। यही कारण हे कि कुछ विद्वानों ने निरुक्त को ही दो खण्डों वाला स्वीकार किया है।

'निघण्टु' केवल वैदिक शब्दों के कोश का ही नाम है। इसकी तुलना में 'निरुक्त' का विषय पर्याप्त विस्तृत है। इसमें वैदिक शब्दों का विवेचन प्रकृति-प्रत्यय के रूप में हुआ है तथा इस विवेचन का प्रधान उद्देश्य भी शब्द के अर्थ को स्पष्ट करना ही है। व्युत्पत्ति यहाँ अर्थ के लिए की गई है, क्योंकि बिना व्युत्पत्ति के अर्थ को जानना सम्भव ही नहीं होता। 'निघण्टु' के भी सभी शब्दों का निर्वचन निरुक्त में नहीं हुआ है। निघण्टु में संकलित कुल 1771 शब्दों में से यास्क ने केवल 660 शब्दों का ही निर्वचन किया है। उन्होंने साधारण शब्दों को छोड़कर कठिन शब्दों तथा देवतावाचक शब्दों को ही अपना विषय बनाया है। इस प्रकार प्रारम्भिक काल में निर्वचन या निरुक्तशास्त्र का विषय केवल वैदिक देवविद्या की सेवा करना था, तो आगे चलकर इसका प्रधान विषय वेदार्थज्ञान में सहायक भाषाशास्त्रीय योगदान हो गया।

'निरुक्त' में निर्वहन के दो प्रकार हैं–

1. शब्द निर्वचन – यहाँ यास्क ने वर्णसाम्य के आधार पर प्रकृति तथा उसमें होने वाले विकार को स्पष्ट किया है; जैसे–'कीकटा' (म्लेच्छभाषा का एक शब्द) का निर्वचन, यास्क ने इस प्रकार किया है–किं कृता (की=किम्, कटा=कृताः)। इसी प्रकार 'सहस्' से 'सहस्र', 'द्विर्दश' से 'विंशति', 'असु+र' से 'असुर','अश्' (धातु) से 'अश्व', 'वि+आ+घ्रा' (धातु) से 'व्याघ्र' आदि शब्द निर्वचन किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भाषाविज्ञान की दृष्टि से ऐसे निर्वचनों का महत्त्व अत्यधिक है।

2. अर्थ-निर्वचन – यहाँ यास्क ने शब्दों के निर्वचन में अर्थसाम्य को ही आधार बनाया है जैसे–'कीकट' का निर्वचन किया है–किं क्रियाभिः अर्थात्

जो लोग यह कहते थे कि धार्मिक क्रियाओं से क्या लाभ है। इसी प्रकार 'व्यघ्रक' का निर्वचन है–'व्यादाय हन्तीति' जो भोजन के मारता है। 'समुद्र' का निर्वचन है–'समभिद्रवन्त्येननापः' जिसकी ओर जल एक साथ दौड़ते हैं आदि।

'निरुक्त' में किये गये निर्वचनों को देखने से ज्ञात होता है कि शब्दों का निर्वचन करते हुए यास्क ने वर्णसाम्य तथा अर्थसाम्य को तो ध्यान में रखा ही है, साथ ही उन्होंने तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक वातावरण तथा लोक-मनोविज्ञान को भी बहुत महत्त्व दिया है। जैसे–'गर्तारुक' का निवर्चन दक्षिण भारत की एक प्रथा-विशेष से सम्बद्ध है– (निरुक्त 3/5); 'पुरुष' के दो निर्वचन दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर हुए हैं– (निरुक्त 2/3) तथा 'सिंह', 'व्याघ्र' तथा 'काक' आदि शबदों के वाच्यार्थ के सात ही उनके आलंकारिक प्रयोग को भी स्पष्ट किया गया है–(निरुक्त 3/18)

इस प्रकार निरुक्त में शब्दों निवर्चन, ध्वनिविज्ञान, अर्थविज्ञान तथा मनोविज्ञान आदि अनेक दृष्टियों से किया गया है जैसा आधुनिक भाषाविज्ञान में भी किया जाता है।

निरुक्त की उपायोगिता –

(1) निरुक्त में 'निघण्टु' में संकलित कठिन वैदिक शब्दों की व्याख्या की गयी है।

(2) निरुक्त वैदिक मंत्रों के पदार्थज्ञान तथा वाक्यार्थज्ञान के लिए उपयोगी है। यास्क के इस कथन की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि जर्मन विद्वान् रॉथ ने भी जिस तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सहारे ही वेदार्थ करना उचित माना है, उसका प्रारम्भ भी हमें निरुक्त में ही मिलता है।

(3) निरुक्त व्याकरण के लिए आवश्यक भूमिका निर्मित करता है, क्योंकि शब्दों के अर्थ को बिना जाने शब्दों की रचना अर्थात् शब्द-संस्कार आदि कार्य नहीं किया जा सकता है। अतः निरुक्त व्याकरण के बिना अधूरा ही रहता है।

(4) निरुक्त के बिना पद-विभाग का ज्ञान नहीं हो सकता। पद-विभाग का वास्तविक आधार अर्थ है और पदों का अर्थज्ञान निरुक्त से ही होता है। अतः बिना निरुक्त के पद-विभाग अवास्तविक रहता है।

(5) यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में भी निरुक्त की उपयोगिता है। निरुक्त से मंत्र के देवता का ज्ञान ठीक-ठाक हो जाता है, जिससे आहुति ठीक देवता को ही पहुँचती है और उसका पूर्ण लाभ प्राप्त होता है।

(6) इसके द्वारा वेदार्थ को जानकर व्यक्ति प्रशंसा का पात्र बनता है।

वेदार्थ-ज्ञान से सम्बन्धित उपर्युक्त उपयोगिताओं के साथ ही विशुद्ध आधुनिक भाषावैज्ञानिक दृष्टि से भी निरुक्त की अनेक उपयोगिताएँ हैं। ध्वनिविज्ञान (Phonetics, phonology) की दृष्टि से निरुक्त में वर्णागम (Prothesis, Anaptyxis), वर्णनाश (Elision), वर्णविपर्यय (Metathesis), वर्णविकार (Assimilation Dissimilation), आदिस्वरलोप (Apheris), मध्य-स्वरलोप (Syncope), वर्णलोप (Hapology) आदि सिद्धान्तों का परिचय सोदाहरण मिलता है। साथ ही रूपविज्ञान (Morphology), वाक्य विज्ञान (Syntax), व्युत्पत्ति सिद्धान्त (Erymology) तथा अर्थविज्ञान (Semantics) आदि भाषाविज्ञान के अन्य अंगों पर भी इससे प्रकाश पड़ता है।

इस प्रकार निरुक्त व्युत्पत्तिविज्ञान तथा अर्थविज्ञान का मूलस्रोत है। निरुक्त में पदों का—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार विभागों में विभाजन वैज्ञानिक होने के साथ ही साथ प्राचीनतम भी है। इसमें सभी शब्दों को धातुज स्वीकार किया गया है। यही मान्यता आधुनिक भाषावैज्ञानिकों को भी है। आधुनिक भाषाविज्ञान के समान ही लोकभाषा को पर्याप्त महत्व दिया गया है। निरुक्तकार 'दम्पति' को लोकप्रचलित 'दम्+पति' के रूप में ही स्वीकार करता है, जबकि वैयाकरण इसे जाया (दम् आदेश) + पति (दम्पति) स्वीकार करता है।

2. वेदांग व्याकरण की परम्परा में पाणिनि के योगदान का उल्लेख कीजिए।

अथवा

पाणिनिकृत अष्टाध्यायी की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर – व्याकरण भी वेदांग में से एक है। ऋग्वेद में इसे वेदरूपी पुरुष का मुख कहा गया है–'मुखं व्याकरणम् स्मृतम्'। 'वि' तथा 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातृ से ल्युट् {वि+आ+कृ+ल्युट् (अन्)} प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'व्याकरण' शब्द का सामान्य अर्थ है– शब्दों का विश्लेषण। 'व्याक्रियन्ते (शब्दाः) अनेन, अस्मिन् वा' अर्थात् जिसके द्वारा या जिसमें शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय का विवेचन होता है। वास्तव में व्याकरण भाषा के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देहों का निराकरण होता है। व्याकरण द्वारा अर्थज्ञानपूर्वक शब्दों का ठीक-ठीक प्रयोग करते हुए व्यक्ति प्रशंसा प्राप्त करता है। प्राचीन व्याकरण तथा आधुनिक भाषाविज्ञान में अत्यधिक समानता है। आधुनिक भाषाविज्ञान में विवेचन के जितने भी विषय हैं, उन सबका विवेचन भारत में प्राचीनकाल में व्याकरण-शास्त्र के अन्तर्गत ही हुआ है। पाश्चात्य भाषाविज्ञान भी उससे पर्याप्त प्रभावित है।

भारत में व्याकरणशास्त्र की एक लम्बी परम्परा प्राप्त होती है। पाणिनि से पहले आपिशलि, गार्ग्य, काश्यप, स्फोटायन, गालव, शाकटायन, शाकल्य आदि लगभग पचास आचार्यों का उल्लेख मिलता है। इसी प्रकार पाणिनि के बाद भी लगभग पन्द्रह आचार्य हुए हैं। वास्तव में पाणिनि से पूर्व ही हमारे देश में भाषा के अध्ययन की दो धाराएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं–पहली प्रातिशाख्य परम्परा, जिसमें भाषा, वाक्य एवं ध्वनि-सम्बन्धी विवेचन मुख्य रूप से होता था। इस परम्परा के सिद्धान्त सभी भाषाओं पर सामान्यतया लागू हो सकते हैं। दूसरी व्याकरण परम्परा, जिसमें वैदिक एवं लौकिक अर्थात् समसामयिक भाषा को विशेष रूप से विवेचन का विषय बनाया गया था। यदाकदा भाषा-सम्बन्धी सामान्य नियमों का निर्धारण भी इस परम्परा द्वारा किया जाता था पर प्रमुखता इस परम्परा में विशिष्ट भाषा नियमों की ही होती थी।

वैयाकरण पाणिनि

व्याकरणशास्त्र के प्रणेताओं में वैयाकरण पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि 'मुनित्रय' के नाम से जाने जाते हैं। पाणिनि संस्कृत-वैयाकरणों में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। पाणिनि से पूर्व के तथा पश्चात् के किसी भी व्याकरण-शास्त्र-रचयिता को वह पद तथा प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं हुई, जो मुनि पाणिनि की हुई है। इनके आविर्भावकाल के विषय में बड़ा मतभेद है। स्थूलरूप में पाणिनि का काल ई.पू. 8वीं शताब्दी से ई.पू. 4वीं शताब्दी तक कहीं बीच में स्वीकार किया जाता है। फिर भी इन्हें 7वीं-8वीं शताब्दी ई.पू. का मानना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अपने वंश-प्रवर्तक पणिन् के नाम पर ही इन्हें पाणिनि कहा जाता है। इनका मातृ-कुल दक्ष गोत्र वाला होने के कारण इन्हें 'दाक्षिपुत्र' भी कहा जाता है। यह तक्षशिला के समीप के शालातुर नगर के निवासी थे। इनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। एक किंवदन्ती के अनुसार इनकी मृत्यु त्रयोदशी तिथि को एक सिंह द्वारा हुई थी।

भारतीय भाषाविज्ञान ही नहीं बल्कि विश्व के भाषाविज्ञान में भी पाणिनि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भारतीय भाषाविज्ञानियों तथा पाश्चात्य भाषाविज्ञानियों ने पाणिनि की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है। पाणिनि के उत्तरकालीन कात्यायन मुनि ने उनके लिए 'भगवान्' तथा पतंजलि ने 'आचार्य' विशेषण का व्यवहार किया है। भारतीय वैयाकरणों में पाणिनि को ही प्रमाण माना जाता है। उनकी प्रतिभा के सम्मुख उनका पूर्ववर्ती कोई भी वैयाकरण मान्य नहीं हो सका है तथा उनके उत्तरवर्ती वैयाकरणों ने केवल पाणिनि की व्याख्या को ही महत्त्व दिया है। पाणिनि का व्याकरण-सम्बन्धी प्रसिद्ध तथा उपलब्ध ग्रंथ 'अष्टाध्यायी' है। इसमें आठ अध्याय होने के कारण ही इसे अष्टाध्यायी कहा जाता है। इसकी रचना सूत्रों में हुई है तथा 3995 सूत्रों में ही वैदिक तथा संस्कृत भाषा सम्बन्धी सब नियम दे दिये गये हैं। इसके प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं तथा प्रत्येक पाद में सूत्रों की संख्या अलग-अलग हैं। अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में पाणिनि व्याकरण में काम आने वाली संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ दी गई हैं। द्वितीय अध्याय में समाज तथा कारक नियम हैं। तृतीय अध्याय में धातुओं से होने वाले प्रत्यय और चतुर्थ-पंचम अध्याय में प्रातिपादिकों से होने वाले प्रत्यय दिये गये हैं। षष्ठ

तथा सप्तम् अध्याय में वैदिक भाषा में प्रयुक्त स्वरों का तथा शब्दों में होने वाले ध्वनि (वर्ण) विकारों का तथा अष्टम् अध्याय में पदों का विवेचन हुआ है। अष्टाध्यायी के अन्त में 'गणपाठ' तथा 'धातुपाठ' नाम से दो परिशिष्ट भी जोड़े गये हैं। अष्टाध्यायी के अतिरिक्त 'उणादि सूत्र', 'लिंगानुशासन' और एक 'शिक्षाग्रंथ' 'पाणिनीय शिक्षा' भी पाणिनि की ही रचनाएँ मानी जाती हैं।

अष्टाध्यायी की मुख्य विशेषताएँ – अष्टाध्यायी में 8 अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के 4 पाद हैं। प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। इसके सूत्रों की संख्या 3995 है। इसमें 14 प्रत्याहार हैं जिनमें सम्पूर्ण वर्णमाला है। इनको माहेश्वर सूत्र भी कहा जाता है। अष्टाध्यायी की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. संक्षिप्तता – पाणिनि ने अत्यधिक संक्षिप्त सूत्रों में अपने व्याकरण को प्रस्तुत किया है। सूत्रों में एक शब्द तो क्या एक वर्ण भी अनावश्यक प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि जब कात्यायन मुनि ने अपनी 'वार्तिकी' में पाणिनि के सूत्रों पर संशोधन प्रस्तुत किया, तो पतंजलि ने उसको स्वीकार नहीं किया। पतंजलि के अनुसार पाणिनि के सूत्रों में एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है। अतः संक्षिप्तता पाणिनि की बहुत बड़ी विशेषता है। उनके सूत्रों के आधार पर ही वैयाकरणों के सम्बन्ध में 'अर्द्धमात्रलाघर्व पुत्रोत्सवं मयते वैयाकरणः' सूक्ति प्रचलित हो गयी है।

2. प्रत्याहारसूत्र – इनके प्रादुर्भाव से सम्बन्धित कथा के आधार पर इन्हें 'शिवसूत्र' या 'माहेश्वर सूत्र' भी कहा जाता है। कुछ संस्कृत प्रेमी इनके आधार पर भाषा की उत्पत्ति का समाधान भी प्रस्तुत करते हैं। इन सूत्रों की संख्या चौदह है। इनमें संस्कृत वर्णमाला को बहुत ही वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम चार सूत्रों में स्वर (अच्) वर्ण है तथा शेष दस सूत्रों में व्यंजन (हल्) रखे गये हैं। स्वरों में मूल तथा सन्धि-स्वरों का क्रम है। इसी प्रकार व्यंजनों (हलों) में पहले अन्तःस्थ रखे गये हैं, क्योंकि ये स्वरों तथा व्यंजनों को मध्यस्थ ध्वनियाँ हैं। शेष व्यंजनों में भी घोष, अघोष, महाप्राण-अल्पप्राण तथा ऊष्मों का क्रम है। इनका क्रम बहुत ही वैज्ञानिक है

तथा इनसे आगे के व्याकरण-सिद्धान्तों को प्रकट करने के लिए बहुत ही संक्षिप्त पारिभाषिक शब्द (अच्, हल्, अल्, एच्, अश् आदि 42 प्रत्याहार) बनाये गये हैं। इन्हीं चौदह प्रत्याहार सूत्रों पर पाणिनि-व्याकरण का सम्पूर्ण ढाँचा खड़ा हुआ है।

3. वर्णविकार (सन्धि) – पाणिनि के सन्धि-नियम इतने व्यापक हैं कि उन्हें किसी भी भाषा पर लागू किया जा सकता है। सन्धि-नियमों के अन्तर्गत उन्होंने स्पष्ट किया है कि एक ध्वनि के तत्काल बाद दूसरी ध्वनि के उच्चारण के कारण शब्दों में आगम, लोप, विकार आदि अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। इन नियमों की तुलना आधुनिक भाषाविज्ञान के ध्वनि-परिवर्तन सम्बन्धी नियमों से कर सकते हैं।

4. पदविभाग – पाणिनि ने यास्ककृत पदविभाग को भी पुनः संशोधित किया है। यास्क ने पदों का विभाजन चार भागों में किया था—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात्। पाणिनि ने पदों के केवल दो ही विभाग माने हैं– (1) सुबन्त, जिसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण आदि के साथ अव्यय भी शामिल हैं। तथा (2) तिङन्त, जिसमें सभी क्रियावाची पद हैं। वाद के विद्वानों ने पाणिनिकृत पदविभाग को ही सरलतम, युक्तिपूर्ण तथा वैज्ञानिक माना है।

5. तुलनात्मक भाषाविज्ञान – पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में वैदिक तथा लौकिक संस्कृत दोनों भाषाओं का विश्लेषण किया है। इसके साथ ही विभिन्न प्रदेशों में बोले जाने वाले संस्कृत के विभिन्न प्रयोगों का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिनि ही सबसे प्रथम भाषावैज्ञानिक हैं, जिन्होंने तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव डाली थी। पाश्चात्य विद्वानों ने जो कार्य उन्नीसवीं शताब्दी में किया, पाणिनि उस कार्य को ई.पू. 7वीं 8वीं शताब्दी में ही कर चुके थे।

6. स्वराघात तथा बलाघात – अष्टाध्यायी के स्वर-प्रक्रिया प्रकरण में भाषा में स्वरघात तथा बलाघात के महत्त्व को स्वीकार करते हुए तत्सम्बन्धी अनेक नियमों की स्थापना को गयी है।

7. समास तथा कारक – भारतीय भाषाविज्ञान में वाक्य विज्ञान तथा

अर्थविज्ञान की ही दूसरी संज्ञा समास तथा कारक है। समास के छः भेद हैं—अव्ययीभाव, कर्मधारय, तत्पुरुष, द्विगु, द्वन्द्व और बहुब्रीहि। समासयुक्त पदों में समास की भिन्नता से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है, उदाहरण के लिए 'इन्द्रशत्रुः' शब्द को तत्पुरुष समास (इन्द्रस्य शत्रुः) मानने पर अर्थ होगा 'इन्द्र का शत्रु' अर्थात् इन्द्र को मारने वाला, किन्तु बहुब्रीहि समास (इन्द्रः शत्रुः यस्य सः) मानने पर अर्थ होगा—इन्द्र है शत्रु अर्थात् मारने वाला जिसका, वह। अन्य उदाहरणों में 'राजपुत्र', 'राजकवि' आदि शब्द देखे जा सकते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनि व्याकरण में समास-भेद से अर्थ-भेद को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकार कारक भी संस्कृत-वाक्य-विज्ञान का आधार है। कारकों के अनुसार ही पदों में विभक्तियों का प्रयोग होता है तथा उसी आधार पर वाक्य का अर्थ प्रकट होता है। कारक-भेद से भी अर्थ में परिवर्तन हो जाता है। 'ब्राह्मणाय वस्त्रं ददाति' अर्थात् ब्राह्मण को वस्त्र (दान) देता है, (जिसे वापस नहीं लिया जाएगा) तथा 'रजकस्य वस्त्रं ददाति' अर्थात् धोबी को वस्त्र (धोने के) लिए देता है, (जिसे वापस ले लिया जाएगा) आदि वाक्यों का अर्थ कारक के आधार पर ही अलग-अलग हो जाता है। इसी प्रकार पाणिनि-व्याकरण का समाज तथा कारक प्रकरण ही आधुनिक भाषाविज्ञान में वाक्यविज्ञान तथा अर्थविज्ञान कहा जाता है।

8. शब्द-व्युत्पत्ति – पाणिनि ने सभी शब्दों को प्रकृति प्रत्यय के योग से व्युत्पन्न माना है। जिन शब्दों में प्रकृति+प्रत्यय का ज्ञान स्पष्ट नहीं है, उनके लिए भी उन्होंने 'उणादि सूत्रों' की रचना की है। इन सूत्रों के द्वारा ऐसे भी शब्दों की व्युत्पत्ति करने का प्रयास किया गया है, जो व्याकरण के अन्य नियमों से व्युत्पन्न नहीं होते हैं। उणादि-प्रकरण के अनुसार इस प्रकार के किसी भी शब्द में पहले उस शब्द के अर्थ के अनुसार धातु (प्रकृति) की कल्पना कर ली जाती है तथा बाद में उसमें काल्पनिक प्रत्यय जोड़ दिया जाता है। प्रत्ययों में कार्य (गुण, वृद्धि तथा इनका अभाव आदि) के अनुसार ही अनुबन्ध (क्, ङ्, ट्, ण्) आदि कर लिया जाता है। उदाहरण के लिए 'शङ्कुल' शब्द व्याकरण के अन्य नियमों से व्युत्पन्न नहीं होता है। अतः यहाँ अर्थ के अनुसार पहले सङ्क (प्रकृति) तथा बाद में उलच् प्रत्यय

(शङ्क+उलच) की कल्पना करके इसे व्युत्पन्न कर लिया जाता है। इस प्रकार पाणिनि ने धातु या (प्रकृति) में उपसर्गों तथा प्रत्ययों को जोड़कर सभी शब्दों की रचना की है। उपसर्ग तथा प्रत्यय के योग से मूल शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है।

अतः उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण से यही निष्कर्ष व निचोड़ निकलता है कि वस्तुतः पाणिनि विश्व के सब से बड़े वैयाकरण है और उनका अमर ग्रंथ अष्टाध्यायी है। संस्कृत साहित्य ही नहीं अपितु विश्व साहित्य की यह अक्षय निधि है। अतः पाणिनि के बाद यदि किसी ने स्वतंत्र ग्रंथों का सृजन भी किया तो वे अष्टाध्यायी के समक्ष धूमिल पड़कर काल-कलवित हो चुके हैं। अतः पाणिनि की भाषा विज्ञान के क्षेत्र में अद्‌भुत अद्वितीय है। अतः पाणिनि के विषय में ब्लमफील्ड ने सत्य ही कहा है–

न भूतो न भविष्यति।

3. मुनित्रयी में स्थान पाने वाले मुनि पतंजलि का भाषा के क्षेत्र में क्या योगदान है?

अथवा

महाभाष्यकार पतंजलि पर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर – मुनि पतंजलि महाभाष्यकार के नाम से विख्यात हैं। इनका समय वर्तिकाकार कात्यायन के दो सौ वर्ष पश्चात् का माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये सम्राट् पुष्यमित्र (ई.पू. द्वितीय शताब्दी) के समकालीन थे। सामान्य दृष्टि से तो पतंजलि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रंथ पर ही महाभाष्य लिखा है। किन्तु मुख्य रूप से इनकी दृष्टि वार्तिककार कात्यायन पर ही रही है। महाभाष्य का तीन चौथाई भाग वार्तिक पाठ पर तथा एक चौथाई भाग मूल अष्टाध्यायी पर आधारित है। सूत्रों की संख्या की दृष्टि से महाभाष्य में 1228 सूत्र कात्यायन रचित वार्तिक वाले 26 सूत्र अन्य आचार्यों के वार्तिक वाले तथा केवल 435 सूत्र अष्टाध्यायी से (बिना किसी वार्तिक के) लिये गये हैं। इस प्रकार आनुपातिक दृष्टि से भी महाकाव्य की रचना का आधार कात्यायन का 'वार्तिकपाठ' ही सिद्ध होता है। पण्डित 'युधिष्ठिर मीमांसक' ने भी इसी बात की पुष्टि की है–

पतंजलि न कात्यायनीय वार्तिकों के आधार पर अपना 'महाकाव्य' रचा है।

पतंजलि के समय संस्कृत भाषा का विकास तेजी से हो रहा था तथा उसका परिमार्जन करना बहुत आवश्यक था। पतंजलि ने इस उत्तरदायित्व का पालन बहुत ही गम्भीरतापूर्वक किया है। उन्होंने अनुभव किया कि जनसामान्य संस्कृत की ओर से उदासीन है तथा प्राकृत भाषाओं का विकास तीव्रगति से हो रहा है। उस समय ब्राह्मण-समाज जैसा शिष्ट समाज भी व्याकरण के अध्ययन से विमुख होकर प्राकृत भाषा के विकास में ही अधिक योगदान कर रहा था। इन परिस्थितियों में बोलचाल की भाषा के साथ ही साहित्य में भी प्राकृत स्वीकृत हो चुकी थी।

इस प्रकार यास्क तथा पाणिनि के समय से चला आ रहा विभिन्न प्रदेशों का भाषा-भेद पतंजलि के समय तक कुछ अधिक बढ़ गया था। पतंजलि के अनुसार विभिन्न प्रदेशों में एक ही अर्थ में अनेक शब्द प्रयुक्त हो रहे थे, जैसे 'जाना' क्रिया के लिए सुराष्ट्र प्रदेश में 'हम्म' धातु का, प्राच्य-मध्य प्रदेश में 'रह' तथा आर्य प्रदेशों में 'गम्' धातु का व्यवहार हो रहा था। कुछ पुरातन शब्दों का स्थान नवीन शब्दों ने ले लिया था, जैसे–'ऊष्' के स्थान पर 'ऊतिष्', 'तेर' के स्थान पर 'तीर्ण', 'चक्र' के स्थान पर 'कृतवत्' तथा 'पेच' के स्थान पर 'पक्कवत्' शब्द, उन्हीं अर्थों में व्यवहृत हो रहे थे। इसके अलावा एक ही संस्कृत शब्द के अनेक अपभ्रंश रूप भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे, जैसे 'गो' संस्कृत शब्द के लिए 'गावी', 'गौणी', 'गीता', 'गोपोतलिका' आदि अनेक अपभ्रंश रूप प्रचलित थे। एक स्थान पर 'गावी' शब्द प्रयुक्त होता था, तो दूसरे स्थान पर 'गोणी' शब्द। ऐसे भाषा-विकास के साथ ही साहित्य में 'रामायण', 'महाभारत' आदि रचनाओं के कारण संस्कृत भाषा का शब्दकोश भी पर्याप्त बढ़ गया था। अतः तत्कालीन भाषा में अनेक शब्द ऐसे थे, जिनका समाधान 'अष्टाध्यायी' से नहीं हो रहा था। इन परिस्थितियों में भाषा-परिमार्जन का महत्त्वपूर्ण कार्य वैयाकरण पतंजलि ने किया। उन्होंने ही सर्वप्रथम 'शिक्षा', 'निरुक्त', 'व्याकरण' और 'दर्शन' के युक्तिक्रम को इकट्ठा किया और उन्हें एक ही विज्ञान का रूप दिया। उनकी दृष्टि से इसे 'शब्दानुशासन' नाम दिया जा सकता है। आज की दृष्टि में यही

भाषातत्त्व और भाषाविज्ञान है ।

पतंजलि का सर्वाधिक महत्त्व इस कारण है कि उन्होंने अपने समय को प्रचलित जनभाषा का विस्तृत सर्वेक्षण किया तथा पूर्ववर्ती भाषा-विवेचकों– शिक्षाकारों, निरुक्तकारों, वैयाकरणों आदि के भाषातत्त्व-सम्बन्धी सिद्धान्तों का लाभ उठाते हुए 'महाभाष्य' के रूप में एक ऐसे स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की, जो आगे चलकर 'भाषा का दर्शन' के रूप में विख्यात हुआ । यद्यपि महाभाष्य कोई मौलिक ग्रंथ न होकर एक भाष्य मात्र है, तो भी संस्कृत-व्याकरण के मुनित्रय में पतंजलि को सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है तथा इस सम्बन्ध में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है ।

काशिका – मुनित्रय के पश्चात् महत्त्व की दृष्टि से 'काशिका' का प्रमुख स्थान है । यह पाणिनिरचित 'अष्टाध्यायी' की प्रसिद्ध टीका है, जिसके लेखकद्वय जयादित्य तथा आचार्य वामन हैं । 'काशिका' शब्द का अर्थ है–'प्रकाशिका' अर्थात् इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों का वृत्ति तथा उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया गया है । इस दृष्टि से 'काशिका' बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । इसमें गणपाठ को भी सम्मिलित किया गया है जिसमें अष्टाध्यायी के साथ-साथ गणपाठ भी उपलब्ध हो जाता है । ये दोनें परस्पर बहुत ही सम्बन्धित हैं ।

'काशिका' का ऐतिहासिक महत्त्व भी है क्योंकि इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि काशिका की रचना से पूर्व अष्टाध्यायी पर अन्य भी अनेक वृत्तियों के प्रति काशिकाकारों का अधिक पक्षपात है । यहाँ तक कि प्रायः उदाहरण भी प्राचीन वृत्तियों से ही लिये गये हैं । अष्टाध्यायी तथा सिद्धान्तकौमुदी के बीच के काल में काशिका बहुत ही लोकप्रिय ग्रंथ था । यही कारण है कि स्वयं 'काशिका' को स्पष्ट करने के लिए भी एक के बाद दूसरी टीकाएं लिखी गयीं । इस पर जिनेन्द्रबुद्धि ने 'काशिका-विवरण-पंजिका' या 'न्यास' नाम की व्याख्या मैत्रेयरक्षित न 'तन्त्र-प्रदीप' में की । इस पर भी नन्दमिश्र ने 'उद्योतन' तथा किन्हीं अन्य दो विद्वानों ने 'प्रभा' और 'आलोक' नाम की दो टीकाएँ लिखी हैं ।

इस प्रकार अष्टाध्यायी तथा उसकी टीका और उस टीका की टीका या वृत्ति के क्रम से 'काशिका' के अध्ययन-अध्यापन बहुत दिनों तक चलता रहा; पर बाद में 'सिद्धान्तकौमुदी' के अधिक प्रचलित हो जाने से काशिका का अध्ययन लगभग समाप्त-सा हो गया।

कौमुदी-ग्रंथों में संस्कृत भाषा का वर्णनात्मक पक्ष प्रस्तुत हुआ है। इन ग्रंथों का आधार यद्यपि पाणिनिकृत अष्टाध्यायी ही हैं तथापि इनमें सूत्रों का क्रम वही नहीं है, जो अष्टाध्यायी में है। इन ग्रंथों में सूत्रों को प्रकरण के अनुसार रखा गया है तथा प्रकरणों के शीर्षक संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास, तद्धित, तिङन्त तथा कृदन्त आदि रख गये हैं। कौमुदी ग्रंथों में—'सिद्धान्तकौमुदी', 'मध्यकौमुदी', 'लघुकौमुदी' का महत्त्व तथा प्रचलन सर्वोपरि रहा है। इसके रचयिता भट्टोजिदीक्षित हैं, जिन्होंने प्रकरणानुसार सूत्रों की वृत्ति भी स्वयं लिखी है। वरदराजकृत 'लघुकौमुदी' तथा 'मध्यकौमुदी' में सूत्रों की संख्या कम है, जिससे पाठक लघुकौमुदी, मध्यकौमुदी तथा सिद्धान्तकौमुदी के क्रम से व्याकरण का ज्ञान प्राप्त कर सकें। विमलसरस्वतीकृत 'रूपमाला' भी विषय की दृष्टि से कौमुदी-ग्रंथों के ही समान है।

4. ध्वनि विज्ञान

1. ध्वनि परिवर्तन के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।

अथवा

ध्वनि परिवर्तन के आन्तरिक तथा बाह्य कारणों पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – परिवर्तन किसी भी भाषा की जीवित सत्ता का प्रमाण है। कई विद्वान् इस परिवर्तन को विकार मानते हैं और कई विकास, परन्तु यह निश्चित है कि परिवर्तन होता अवश्य है। बात यह है कि भाषा सामाजिक सम्पत्ति होने के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति भी है। अतः दोनों वैयक्तिक और सामाजिक विचारों के प्रभाव से वह अपना स्वरूप सदा बदलती रहती है। भाषा में यह परिवर्तन तीन रूपों–ध्वनि रूप तथा अर्थ में आता है। यहाँ हमारा विवेच्य ध्वनि परिवर्तन है। ध्वनि परिवर्तन को समझने से पूर्व ध्वनि और रूपध्वनिग्राम के अन्तर को समझ लेना उपयुक्त होगा।

रूपध्वनिग्राम विज्ञान को रूप-स्वानिमिक नाम भी दिया जाता है। यह रूप विज्ञान की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत रूपग्रामों के उप रूपध्वनिग्रामीय परिवर्तनों का अध्ययन किया जाता है, जो दो या दो से अधिक रूपग्रामों का योग होने पर शब्द, रूप, वाक्य अथवा वाक्यांशों में होते हैं। रूपग्रामों में होने वाले ध्वनि सम्बन्धी परिवर्तनों को रूपध्वनिग्रामीय अथवा रूप-स्वानिमिक परिवर्तन नाम दिया जाता है।

संस्कृत में सन्धि के कारण होने वाले परिवर्तन–यदि+अपि=यद्यपि तथा हिन्दी में लड़का के लड़के और लड़कों रूपों में परिवर्तन रूपध्वनिग्रामीण परिवर्तन है।

रूप-स्वानिमिक, रूपध्वनिग्रामीय और ध्वनीय–परिवर्तन के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है–

(क) ध्वनि-परिवर्तन का क्षेत्र शब्द तक सीमित है। रूपध्वनि-परिवर्तन शब्दों तथा वाक्यांशों में भी होता है।

(ख) ध्वनि-परिवर्तन की गति मन्द होती है, जबकि रूपध्वनि-परिवर्तन की गति तीव्र होती है।

(ग) रूपध्वनिग्राम-परिवर्तन केवल दो से अधिक रूपग्रामों के योग में होता है, परन्तु ध्वनि परिवर्तन के लिए ऐसा कोई नियम नहीं ।

(घ) ध्वनि परिवर्तन में वर्ण विपर्यय होता है, जबकि रूपध्वनिग्राम-परिवर्तन में रूपान्तरण होता है ।

ध्वनियों में परिवर्तन के कारण को दो वर्गों में रख सकते हैं—बाह्य वर्ग तथा आन्तरिक वर्ग ।

बाह्य वर्ग – स्थान (भूगोल), काल, विजातीय सम्पर्क तथा परिस्थितियाँ —राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा वैयक्तिक विभिन्नता आदि बाह्य कारण हैं ।

आन्तरिक वर्ग – इसमें वे कारण आते हैं जिनमें भीतर से ही परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है । अर्थात् ध्वनि-परिवर्तन का सम्बन्ध ध्वनि के घिसने अथवा श्वासघात आदि से होता है । अधिकतर ध्वनि-परिवर्तन आन्तरिक कारणों से ही होता है । प्रमुख बाह्य तथा आन्तरिक कारण निम्नलिखित हैं—

1. वाक् यन्त्र की विभिन्नता – किन्हीं दो व्यक्तियों का वाक्यन्त्र ठीक एक प्रकार का नहीं होता । अतः किसी एक ध्वनि का उच्चारण दो व्यक्ति एक समान नहीं कर सकते । इस उच्चारण में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य रहता है । यही अन्तर एक दिन स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है । ऋ और री तथा श और ष के उच्चारण इसी प्रकार धीरे-धीरे एक हुए होंगे ।

2. श्रवण यन्त्र की विभिन्नता – भाषा सामाजिक सम्पत्ति है । व्यक्ति समाज से सुनकर ही भाषा सीखता है । प्रत्येक व्यक्ति की श्रवणेन्द्रिय भिन्न-भिन्न है । एक व्यक्ति के उच्चारण को दो व्यक्ति ठीक एक-सा नहीं सुन पाते । श्रवण की यह भिन्नत ध्वनि परिवर्तन में सहायक होती है ।

3. अनुकरण की अपूर्णता – अनुकरण मनुष्य की एक स्वाभाविक दुर्बलता है । किसी के सुन्दर उच्चारण अथवा शब्द प्रयोग अथवा शैली का अन्य लोग प्रायः अनुकरण करते हैं, परन्तु यह अनुकरण कभी सही नहीं हो पाता । अनुकर्ता या तो आगे बढ़ जाता है या पीछे रह जाता है । बच्चों में यह अपूर्णता स्पष्ट होती है । रोटी को लोटी, रुपया को लुपया कहना अनुकरण

की अपूर्णता है । कतिपय विदेशी शब्दों का उच्चारण क्लिष्ट होने के कारण उनका ठीक अनुकरण नहीं हो सकता,, इस अनुकरण की अपूर्णता के कारण ध्वनि परिवर्तन हो जाता है ।

4. अज्ञान – उन देशी-विदेशी शब्दों–जिनका हमें अर्थ ज्ञात नहीं होता–का उच्चारण प्रायः अशुद्ध होने के कारण उनमें ध्वनि परिवर्तन हो जाता है ।

5. भ्रमपूर्ण व्युत्पत्ति – इसका आधार भी अज्ञान है, परन्तु इसमें कुछ मिलते-जुलते शब्दों के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है और उसमें ध्वनि परिवर्तन हो जाता है ।

6. बोलने में शीघ्रता – बोलने में शीघ्रता करने से शब्दों की ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है ।

7. मुख-सुख अथवा उच्चारण सुविधा अथवा प्रयत्न लाघव – यह ध्वनि परिवर्तन का सर्वप्रधान कारण है । बात यह है कि भाषा विचाराभिव्यक्ति का साधन है । मनुष्य अल्पात्यल्प प्रयास से अधिकाधिक लाभ उठाना चाहता है । भाषा के क्षेत्र में भी थोड़े में और कम प्रयास से अपने भावों की अभिव्यक्ति की चेष्टा करता हैं इस मुख-सुख के लिए ध्वनि का त्याग, ग्रहण तथा स्थान परिवर्तन आदि चलता रहता है ।

8. भावुकता – भावुकता, प्रेम, क्रोध, घृणा में भी व्यक्ति शब्दों को बिगाड़कर बोलते हैं । बेटी का बिट्टी, बच्चा का बच्चू में भावुकतावश ध्वनि परिवर्तन स्पष्ट है ।

9. बनकर बोलना अथवा वचन-वक्रता– अपने को चुस्त, शिक्षित अथवा विशिष्ट दिखाने के प्रयास में भी लोग बातचीत में ध्वनियों को बदल देते हैं । भाई का बाई, कहना को कैणा, सेवक का शैवक आदि प्रयोग बनकर बोलने के उदाहरण हैं ।

10. विभाषा का प्रभाव – एक जाति दूसरी जाति के सम्पर्क में आने पर विचार के क्षेत्र के साथ भाषा के क्षेत्र में भी प्रभावित होती है । दोनों भाषाओं की ध्वनियों में आदान-प्रदान होता है । भारोपीय परिवतार में ट वर्ग की ध्वनियों की स्थिति में द्रविड़ सम्पर्क का प्रभाव है ।

11. भौगोलिक प्रभाव – किसी जाति का एक स्थान से हटकर दूसरे अधिक शीतल स्थान पर जा बसने पर उसकी भाषा में विवृत ध्वनियों का विकास नहीं होता, विवृत ध्वनियाँ संवृत होने लगती हैं । इसके विपरीत उष्ण देश में रहने पर संवृत के स्थान पर विवृत ध्वनियों का विकास होता है । चारों ओर से पर्वतीय प्रदेशों से घिरे स्थान के वासियों की भाषा में स्वतन्त्र रूप से बिना किसी बाहरी व्याघात के ध्वनियों का विकास होता है ।

12. सामाजिक प्रभाव – समाज की स्थिति, युद्ध अथवा शान्ति के वातावरण में भी ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन का होना स्वाभाविक है । शान्तिकाल में शिक्षा-दीक्षा के प्रचार में शुद्ध उच्चारण की प्रवृत्ति तथा संघर्षकाल में शुद्ध उच्चारण की उपेक्षा होने लगती है ।

13. लिखित भाषा का प्रभाव – उर्दू और गुरुमुखी लिपियों में संयुक्त ध्वनियाँ न होने के कारण उन भाषाओं में संस्कृत तथा हिन्दी की संयुक्त ध्वनियों को वियुक्त करके लिखा जाता है । जैसे–प्रधान चन्द्र के स्थान पर परधान और चन्दर । संस्कृत शब्दों के अन्तिम स्वर के सही उच्चारण के लिए अंग्रेज़ी में शब्द के अन्त में A लगाने की प्रवृत्ति है । जैसे Rama, Budha आदि । इस तथ्य को समझने के कारण शिक्षित वर्ग आज राजेन्द्र का राजेन्द्रा और गुप्त को गुप्ता बोलने लगे हैं ।

14. मिथ्या सादृश्य – कुछ शब्दों में मिथ्या सादृश्य के आधार पर ध्वनि परिवर्तन हो जाता है । पैंतीस के सादृश्य पर सैंतीस में अनुनासिकता आ गयी है । द्वादश के अनुकरण पर एकदश एकादश बन गया है ।

15. शब्दों की असाधारण लम्बाई – मुख सुख तथा उच्चारण सुविधा आदि के लिए लोग प्रायः लम्बे शब्दों को छोटे रूप दे देते हैं । इस प्रकार अनावश्यक लम्बाई भी ध्वनि परिवर्तन का कारण बनती है ।

16. स्वाभाविक विकास – कतिपय शब्दों की ध्वनियों में घिसने आदि की प्रवृत्ति चलती रहती है और बिना किसी कारण के स्वाभाविक रीति से विकास अथवा परिवर्तन हो जाता है । फारसी के स का हिन्दी में ह, संस्कृत में मया का हिन्दी में मैं इस प्रकार के स्वाभाविक विकास के उदाहरण हैं ।

17. छन्द मात्रा – कई बार कविता में मात्रा अथवा तुक मिलाने के लिए शब्दों को जान-बूझकर तोड़ा मरोड़ा जाता है। सन्त-साहित्य में यह प्रवृत्ति अधिकता से मिलती है। जैसे–साथ-सत्थ, विकराल-विकरार आदि।

उपर्युक्त कारणों से ध्वनियों में होने वाले विविध परिवर्तनों के दो रूप होते हैं–

1. स्वयंभू – स्वाभाविक अर्थात् बिना किसी परिस्थिति के भाषा के प्रवाह में अकारण अपने आप हो जाने वाले परिवर्तन, स्वयंभू परिवर्तन कहलाते हैं।

2. परोद्भूत – बाह्य परिस्थिति अथवा प्रभाव-विशेष से होने वाले परिवर्तन परोद्भूत कहलाते हैं। अधिकांश परिवर्तन परोद्भूत होते हैं, सामान्यतः इनके 14 प्रकार मिलते हैं।

2. ध्वनि परिवर्तन की दिशाओं का सोदाहरण उल्लेख करें।

उत्तर – परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। समय एवं परिस्थितियों के अनुसार प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, डॉ. कर्णसिंह आदि आधुनिककालीन सुविख्यात भाषा विज्ञानियों ने गम्भीर अनुसंधान के उपरांत ध्वनि-परिवर्तन की मुख्य दिशाओं का वर्णन अधोलिखित पंक्तियों में लिखा है–

1. आगम – इसका अर्थ है कि जब स्वर व व्यंजन शब्द के आदि व अन्त में कोई वर्ण जुड़ जाता है तो वह आगम कहलाता है। जैसे– दवा=दवाई, ग्लानि=गिलानी आदि।

2. लोप – लोप स्वर व व्यंजन के आदि, मध्य और अंत में तीनों स्थानों पर होता है। जैसे– निद्रा=नींद, कोकिला=कोयल आदि।

3. विपर्यय – वर्णों के स्थानान्तरण का नाम ही विपर्यय है। इसमें वर्णों की अदला बदली हो जाती है। पीछे के वर्ण आगे और आगे के पीछे हो जाते हैं। जैसे–पागल=पगला, लखनऊ=नखलऊ आदि।

4. समीकरण – एक ध्वनि दूसरे को प्रभावित कर लेती है और इस प्रकार अपना रूप उसे दे देती है। जैसे– कर्म=कम्म, धर्म=धम्म आदि।

5. विषमीकरण – जब दो समान ध्वनियाँ एक अपना स्वरूप छोड़कर दूसरा स्वरूप धारण कर ले अर्थात् समीकरण का ठीक उल्टा। जैसे–पुरुष=पुरस, काक=काग आदि।

6. मात्रा भेद – ह्रस्व और दीर्घ सवर परिवर्तित होकर कभी ह्रस्व का दीर्घ और कभी दीर्घ का ह्रस्व हो जाता है। जैसे–कंटक=कांटा, लज्जा=लाज आदि।

7. सन्धि – जब दो ध्वनियाँ परस्पर मिल जाती हैं तो वह संधि कहलाती हैं। वस्तुतः यह तीन प्रकार की होती है–स्वर संधि, व्यंजन संधि और विसर्ग संधि। जैसे–सत्+जन=सज्जन, जगत्+ईश=जगदीश आदि।

8. अनुनासिकीकरण – शब्दों के उच्चारण में कभी-कभी वायु नासिका एवं मुख द्वार से बँटकर निकलती है तो उच्चारण में अनुनासिकता आ जाती है। जैसे–सत्य=सांच, कूप=कुआँ आदि।

9. घोषीकरण – ये वे वर्ण कहलाते हैं जिनके बोलने में गूँज पैदा हो। जैसे सारे स्वर, व्यंजनों के अंतिम तीन वर्ण। कभी-कभी अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं। जैसे–सौक=साग, कंकरारी=कंगण आदि।

10. अघोषीकरण – ये वे ध्वनियाँ होती हैं जिनके उच्चारण गूँज पैदा न हो जैसे व्यंजन वर्ण। कभी-कभी अघोष ध्वनियाँ घोष हो जाती हैं जैसे–मदद=मदत्, भाई =पाई (पंजाबी) आदि।

11. महाप्राणीकरण – जिस ध्वनियों के उच्चारण में अधिक वायु का प्रयोग हो वे महाप्राण हैं। प्रत्येक वर्ग का 2, 4 वर्ण इसके अंतर्गत आते हैं। जैसे उष्म ध्वनियों के संसर्ग के कारण प्रायः अन्य प्राण ध्वनियाँ महाप्राण हो जाती हैं– वृश्चिक=बिच्छू, हस्त=हाथ आदि।

12. अल्पप्राणीकरण – ये वे ध्वनियाँ होती है जिनके उच्चारण में कम वायु की आवश्यकता हो प्रत्येक वर्ग के 1, 3 व 5 वर्ग अल्पप्राण होते हैं। जैसे–सिन्धु=हिन्दू, भगिनी=बहिन आदि।

13. उष्मीकरण – कभी-कभी कई ध्वनियाँ उष्म हो जाती हैं जैसे–क्षेत्र=खेत, क्षत्री=खत्री आदि।

14. भ्रामक व्युत्पत्ति – कभी-कभी दूसरी भाषा की ध्वनियाँ को ठीक प्रकार से न समझने के कारण अपनी भाषा की किसी ध्वनि को समान मानकर उसकी व्युत्पत्ति मनमाने ढंग से कर ली जाती है। इसके अन्तर्गत दूसरी भाषा की प्रकृति के अनुरूप ढाल ली जाती है। जैसे–इन्तकाल=अंतकाल, लॉर्ड=लाट आदि।

ऊपरलिखित विवेचनविश्लेषण के आधार पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ध्वनि परिवर्तन की अनेकों ही दिशाएं हैं। परन्तु मुख्य दिशाएं उपर्युक्त ही हैं जिनका उल्लेख विभिन्न भाषा विज्ञानिकों ने किया है।

3. स्वर (अच्) की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर – **स्वर की परिभाषा –** स्वर वह घोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से मुख विवर से निकलती है। स्वर का वर्गीकरण अधोलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है–

1. स्वरतंत्रियों की स्थिति –

(1) घोष – घोष वे वर्ण होते हैं जिनके बोलने में गूंज पैदा हो। सारे स्वर व्यंजनों के अंतिम तीन वर्ण इसके अंतर्गत आते हैं जैसे–अ, आ, ग, घ आदि।

(2) अघोष – ये वे ध्वनियाँ होती हैं जिसके उच्चारण में गूंज पैदा न हो। व्यंजन के प्रथम दो वर्ण अघोष होते हैं जैसे–क, ख आदि।

2. मुँह की मांसपेशियों की स्थिति –

इस आधार पर स्वरों के दो भेद किये जा सकते हैं–

(1) शिथिल स्वर जैसे–इ उ आदि।

(2) दृढ़ स्वर जैसे – ई, ऊ आदि।

3. मूल स्वर की स्थिति –

इसमें जीभ एक स्थान पर रहती है जैसे – अ, इ आदि।

4. मात्रा की स्थिति –

इसके आधार पर स्वरों के तीन भेद होते हैं।

(1) ह्रस्व स्वर– अ, इ, उ आदि ।

(2) दीर्घ स्वर – आ, ई, ऊ आदि ।

(3) प्लुत स्वर– ओ३म् आदि ।

(4) कंठ – कोमल तालु और कौवे की स्थिति जैसे–

(5) मौखिक स्वर – अ, आ आदि

(6) अनुनासिक स्वर– अँ आदि ।

5. ओष्ठों कर स्थिति जैसे–उ, ऊ आदि ।

6. वृत्ताकार स्वर जैसे–अ, ए आदि ।

7. जीभ की स्थिति ।

(1) अग्रस्वर जैसे– इ, ई आदि ।

(2) पश्च स्वर जैसे–उ, ऊ आदि ।

(3) मध्य स्वर जैसे– अ आदि ।

(4) संवृत स्वर – जब मुख द्वारा बहुत संकरा हो जाता है परन्तु इतना संकरा न हो कि किसी का स्पर्श न हो जैसे इ, ई आदि । परन्तु इतना संकरा न हो कि किसी प्रकार का स्पर्श न हो जैसे–इ, ई आदि (जिह्वा का ऊपर जाना)

(5) अर्द्ध संवृत स्वर – जब मुख द्वार संकरा होता है जैसे– ए, ओ आदि । (ऊपर से थोड़ा)

(6) विवृत संवृत – जब मुख द्वार पूरा खुला होता है जैसे–ए, ओ आदि (थोड़ा नीचे)

(7) अर्द्धविवृत – जब मुख द्वारा आधा खुलता है जैसे–ऐ, ओ आदि ।

निष्कर्षतः इतना ही कहना काफी होगा कि हिन्दी भाषा में स्वरों का वर्गीकरण अत्यधिक वैज्ञानिक है ।

4. व्यंजन (हल्) की परिभाषा देकर उसका वर्गीकरण कीजिए ।

उत्तर – व्यंजन वह ध्वनि है जिसके उच्चारण में वायु अबाध गति से नहीं

निकलती या तो इसे पूर्ण अवरुद्ध होकर फिर आगे बढ़ना पड़ता है या संकीर्ण मार्ग से घर्षण खाते हुए निकलना पड़ता है या मध्य रेखा से हटकर एक या दोनों पार्श्वों से निकलना पड़ता है। व्यंजनों का वर्गीकरण अधोलिखित रेखाओं में प्रस्तुत किया जा सकता है।

(1) संयुक्त या असंयुक्त के आधार पर – जैसे–संयुक्त प्य, क्य आदि। असंयुक्त जैसे प, क अदि।

(2) ह्रस्वता और दीर्घता के आधार पर – जैसे–ह्रस्व–क, च आदि, दीर्घ–क्क, च्च आदि।

(3) प्राणत्व के आधार पर –

(क) महाप्राण – जिन ध्वनियों के उच्चारण में अधिक वायु का प्रयोग हो, वे महाप्राण होते हैं, प्रत्येक वर्ग का दूसरा और चौथा वर्ण इसके अन्तर्गत आता है। जैसे–ख, घ आदि।

(ख) अल्पप्राण – प्राण का अर्थ वायु है और अल्प को कुछ इस प्रकार कह सकते हैं कि जिन ध्वनियों के उच्चारण में कम वायु की आवश्यकता हो प्रत्येक वर्ग का पहला, तीसरा वर्ण इसके अन्तर्गत आता है। जैसे – क, ग आदि।

(4) स्वरतंत्रियों के आधार पर –

(क) घोष – घोष ध्वनियों में श्वास के निकलने में श्वास के निकलने में बाधा होती है और स्वरतंत्रियाँ एक दूसरे के निकट आ जाती हैं। दूसरे शब्दों में नाद का अन्य नाम ही घोष है। सारे स्वर व प्रत्येक वर्ग के अंतिम तीन वर्ण इसके अन्तर्गत आते हैं। जैसे–अ, आ, ग, घ आदि।

(ख) अघोष – जिन ध्वनियों के उच्चारण में श्वास आसानी से निकल जाती है। वे ध्वनियाँ अघोष कहलाती हैं और प्रयत्न भी अशेष कहलाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि श्वास प्रयत्न ही अघोष प्रयत्न है। प्रत्येक वर्ग का पहला और दूसरा वर्ण अघोष है।

(5) उच्चारण स्थान के आधार पर –

(क) कंठ्य– जिन वर्णों का उच्चारण कंठ से हो जैसे कवर्ग आदि।

(ख) तालव्य– जिन वर्णों का उच्चारण तालु से होता है। जैसे चवर्ग आदि।

(ग) मूर्धन्य – जिन वर्णों का उच्चारण मूर्धा से होता है जैसे–टवर्ग

(घ) वर्त्स्य – दाँतों की जड़ों में लगा भाग वर्त्स कहलाता है। जिन वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वानीक तालु के अन्तिम भाग और ऊपर के मसूड़ों का स्पर्श करती है उन्हें वर्त्स्य कहते हैं। जैसे–ह्र आदि।

(ङ) दन्त्य – जिन वर्णों का उच्चारण जीभ की नोक का ऊपर के दांतों से होता है। जैसे तवर्ग आदि।

(च) ओष्ठ्य – इनका उच्चारण दोनों ओष्ठों से होता है। जैसे पवर्ग आदि।

(छ) दंतोष्ठय – जिन का उच्चारण ऊपर के दाँत और नीचे के ओष्ठ से हो जैसे–फ, व आदि।

(ज) जिह्वामूलीय – जिन ध्वनियों का उच्चारण जीभ की जड़ से होता है जैसे–क़, ख़ आदि।

(झ) स्वर यंत्रमुखी – जिस ध्वनि का उच्चारण स्वरयंत्र से हो जैसे ह् आदि।

(6) प्रयत्न के आधार पर –

(क) स्पर्श – जिन व्यंजनों का उच्चारण करते समय एक उच्चारण अवयव दूसरे का स्पर्श करें जैसे–कवर्ग आदि।

(ख) संघर्षी – जिन व्यंजनों के उच्चारण में एक उच्चारण अवयव दूसरे के इतने समीप आ जाये कि बीच में वायु सघर्ष करते हुए निकले जैसे–फ, व आदि।

(ग) स्पर्श संघर्षी – जिन व्यंजनों के उच्चारण में आरम्भ में स्पर्श हो तथा बाद में अवयवों के धीरे-धीरे एक दूसरे से दूर हटने के कारण संघर्ष हो जैसे–चवर्ग आदि।

(घ) नासिका – जिन व्यंजनों के उच्चारण में हवा नाक से निकले। जैसे–ण, न, म आदि।

(ङ) पार्श्विक – जिन व्यंजनों के उच्चारण में मुख में बीच रेखा पर स्पर्श हो तथा हवा एक यादो पार्श्वों से निकले जैसे – ल आदि।

(च) उत्क्षिप्त – वे व्यंजन हैं जिनके उच्चारण में जीभ ऊपर जाकर झटके से नीचे आती है। जैसे– ड़, ढ़ आदि।

(छ) लुण्ठित – जिनके उच्चारण में मुख्य उच्चारण अवयव में कम्पन है। इनके उच्चारण में जीभ की नोक कांपती हैं जैसे – र, र्र आदि।

(ज) अन्तस्थ – जो वर्ण कभी स्वर के समान और कभी व्यंजन के समान बोले जाते हैं उन्हें अन्तस्थ या अर्धस्वर कहते हैं। जैसे– य, व आदि।

5. भाषा परिवार एवं भारत में आर्येतर भाषा परिवार

1. विश्व के विभिन्न भाषा परिवारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

अथवा

भूखण्डों की दृष्टि से विश्व के भाषा परिवारों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर – विश्व के विभिन्न भाषा परिवारों को भौगोलिक दृष्टिकोण से चार भूखण्डों–अमेरिका भूखण्ड, अफ्रीका भूखण्ड, प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड और आस्ट्रेलिया भूखण्ड में बाँटा जा सकता है जिनका संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित है।

1. अमेरिका भूखण्ड –

पूरे अमेरिकी महाद्वीप के आदिवासियों की भाषाएँ इस खण्ड में सम्मिलित हैं। इन भाषाओं की संख्या लगभग चार सौ मानी जाती है। इस वर्ग की अधिकांश भाषाएँ अनुसन्धान और अध्ययन की प्रतीक्षा में हैं। अधिकांश भाषाएँ साहित्य और लिपि रहित हैं तथा अपने अविकसित स्थिति में यात्रा पूरी कर रही हैं। ये सभी भाषाएँ प्रश्लिष्ट योगात्मक प्रधान हैं। यहाँ पूरा-पूरा वाक्य प्रायः एक लम्बे शब्द के द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस खण्ड की भाषाएँ भौगोलिक आधार पर इस प्रकार वर्गीकृत की गई है–

(1) उत्तरी अमेरिका– एस्किमो (ग्रीनलैण्ड), अथवस्की (कनाडा), अल्गोनकी (संयुक्त राज्य) आदि।

(2) मैक्सिको और मध्य अमेरिका – अजतेक (मैक्सिको), मय, महुअल्ल आदि।

(3) दक्षिणी अमेरिका – अरबक (अरोचक), करीब, गुअर्नी, तुपी, अरौकन, चको, देल, फूगो आदि।

2. अफ्रीका खण्ड –

अफ्रीका भूखण्ड की भाषाएँ अमेरिका खण्ड की भाषाओं से अत्यधिक साहित्य सम्पन्न हैं। इस खण्ड में मुख्य रूप से निम्न भाषा परिवारों को शामिल किया जाता है–

(1) बुशमैनी-होतेन्तोत परिवार – बुशमैन दक्षिण अफ्रीका के मूल निवासियों की एक जाति का नाम है जो अफ्रीका के उत्तर में नागामी झील से लेकर दक्षिण में ऑरेन्ज नदी तथा पूरब में लगभग पच्चीस देशान्तर से पश्चिम में अटलाण्टिक महासागर तक फैली हुई है। इसके नाम पर ही इस भाषा परिवार का नाम बुशमैन रखा गया है। वह भाषा परिवार दक्षिण अफ्रीका का सर्वाधिक प्राचीन भाषा परिवार है। जंगली जाति की भाषा के रूप में प्रसिद्ध इस भाषा परिवार में कोई साहित्य नहीं है। स्थानीय परम्परागत लोकगीत तथा लोक-कथाएँ अवश्य हैं। ब्लाख का मत है कि इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट अन्तः योगात्मक थीं, लेकिन ये क्रमशः अयोगात्मकता की ओर जा रही हैं। ये भाषाएँ सूडान तथा बान्टू परिवार की जुलु भाषा के अत्यधिक निकट हैं। बुशमैन परिवार के भाषा-भाषियों की कुल संख्या लगभग पाँच लाख है।

(2) बान्टू या बान्तू परिवार – बान्टू परिवार की भाषाएँ अफ्रीका महाद्वीप में भूमध्य रेखा के दक्षिण में पश्चिमी तट से पूर्वी तट तक लगभग 10° पूर्वी देशान्तर से 40° पूर्वी देशान्तर तक बोली जाती हैं। इसके दक्षिण-पश्चिम में बुशमैन तथा होटेंटाट ओर उत्तर में सूडान परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं। जंजीवार द्वीप की स्वाहिली भाषा भी इसी परिवार की भाषा है। बान्टू परिवार में लगभग 150 भाषाएँ मानी जाती है जिन्हें तीन वर्गों में बांटा जाता है–पहला पूर्वी वर्ग–मुख्य भाषाएँ 'काफिर तथा जुलु', दूसरा मध्यवर्ती वर्ग–मुख्य भाषा 'सेसुतो' तथा तीसरा पश्चिमी वर्ग–मुख्य भाषा 'लांगो'। ये सभी भाषाएँ साहित्य-विहीन हैं। स्वाहिली भाषा में थोड़ा-बहुत साहित्य अवश्य मिलता है, वह भी अरबी भाषा में। बान्टू परिवार की भाषाओं में लिंग-भेद नहीं है। बान्टू परिवार की भाषाएँ लगभग नौ करोड़ लोगों द्वारा बोली जाती है। एक करोड़ पचास लाख लोग स्वाहिली भाषा का प्रयोग करते हैं। शेष लोग जुलु, खोसा, गण्डा, रूआण्डा तथा कांगो भाषा बोलते हैं। सभी स्वर होने के कारण ये भाषाएँ सुनने में मीठी लगती हैं।

(3) सूडानी परिवार – अफ्रीका में भूमध्य रेखा के उत्तर में पश्चिमी तट से लेकर पूर्वी तट तक सूडानी भाषा परिवार विस्तृत है। इसके उत्तरी सिरे पर

हामी या हैमेटिक परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं । सूडान भाषा परिवार में लगभग 435 भाषाएँ हैं । इनमें से मात्र पाँच-छः भाषाओं के पास ही अपनी लिपि है । इस परिवार की भाषाए चार वर्गों में विभाजित हैं–सेनेगल, ईव, मध्यवर्ती और नीलोत्तरी । पहले वर्ग की बोलोफ, दूसरे वर्ग की ईव, तीसरे वर्ग की हाउसा तथा चौथे वर्ग की बारी विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं । उत्तरी तथा मध्य अफ्रीका के लगभग सभी बड़े नगरों में व्यापार की भाषा हाउसा ही है । इस परिवार के भाषा-भाषियों की कुल जनसंख्या लगभग 13 करोड़ है, जिसमें दो करोड़ लोग हाउसा तथा शेष बाई, मोम, इवी, एफिक, कनूरी, नूवी आदि बोलते हैं । इस परिवार में चीनी भाषा के समान एकाक्षर धातुओं का प्रयोग होता है । इनमें उपसर्ग तथा प्रत्यय का अभाव होता है ।

(4) हामी (हैमेटिक) परिवार – इस भाषा परिवार के साथ नामकरण सम्बन्धी एक किंवदन्ती प्रचलित है । इंजिल की एक कथा के अनुसार नीह के दूसरे पुत्र हेम अफ्रीका के कुछ बाग़ों में अदि पुरुष के रूप में प्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि उन्हीं के नाम पर इस परिवार का नाम पड़ा । इस परिवार की भाषाएँ उत्तरी अफ्रीका के सम्पूर्ण प्रान्तों में बोली जाती थीं । इस भाषा परिवार पर धार्मिक तथा राजनैतिक कारणों और सैमेटिक परिवार के भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप इसकी बहुत सी भाषाएँ लुप्त हो गईं । इस परिवार की प्रमुख भाषा प्राचीन मिस्री से ही काप्टी का जन्म हुआ । इस काप्टी में ही तीसरी शताब्दी में बाइबिल का अनुवाद किया गया । मिस्री भाषा में लगभग 6000 वर्ष पहले तक के लेख मिलते हैं । प्राचीन मिस्री के दो रूप थे–एक, धर्म ग्रंथों का तथा दूसरा, जन-सामान्य का । लीबिया की भाषा लीबी, इथियोपिया की भाषा इथियोपी, सोमाली लैण्ड की भाषा सोमाली–इस परिवार की अन्य प्रसिद्ध भाषाएँ हैं । सोमाली का प्रयोग प्रायः व्यापारियों में होता है । मिस्री भाषा में सरल धातुएँ एकाक्षर तथा अनेकाक्षर हैं । इसमें मध्य, आदि तथा अन्त में धातुएँ जोड़कर पदों की रचना की जाती है । यहाँ क्रियाएँ काल की बाधक नहीं होती, अपितु काल के बोध के लिए सहायक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है । हैमेटिक भाषा परिवार के बोलने वालों की संख्या लगभग 2.50 करोड़ है ।

3. प्रशान्त महासागरीय भूखण्ड –

इस भूखण्ड की भाषाओं के नामकरण भौगोलिक आधार पर किए गए हैं । इस परिवार की भाषाएँ प्रशान्त महासागर तथा हिन्द महासागर के विशाल भूखण्डों में फैली हुई है । अफ्रीका के दक्षिण पूर्व में स्थित मेडागास्का द्वीप, एशिया के दक्षिण पूर्व में स्थित मलय प्रायद्वीप, इण्डोनेशिया के विभिन्न द्वीपों, प्रशान्त महासागर में कर्क रेखा से लेकर पैंतालीस दक्षिणी अक्षांश के बीच स्थित अनेक द्वीपों तथा दक्षिण अमरीका महाद्वीप के चिली देश के पश्चिम में स्थित ईस्टर द्वीप तक ये भाषाएँ प्रसारित हैं । इस वर्ग के अन्तर्गत जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, फिलीपाइन्स, फारमोसा, न्यूगिनी आदि न्यूजीलैण्ड की भाषाएँ आती हैं। इस खण्ड की भाषाएँ मलाया पीनीनेशियाई या आस्ट्रोनेशियाई नाम से विख्यात है । इस परिवार की भाषाओं को पाँच भागों में विभाजित किया गया है–मलयाई या इण्डानेशिया परिवार, मलनेशियाई परिवार, पॉलीनेशियाई परिवार पापुआई परिवार और आस्ट्रेलियाई परिवार । मलाया पॉलीनेशियाई परिवार के भाषा-भाषियों की संख्या वर्तमान में लगभग 18 करोड़ है, जिसमें 6 करोड़ व्यक्ति मलय, 10 करोड़ जावी तथा दो करोड़ व्यक्ति सुन्दियन भाषा बोलते हैं । इस भूखण्ड के भाषा परिवारों का संक्षिप्त वर्णन अग्रलिखित है–

(1) मलयाई या इन्डोनेशियाई परिवार – इस परिवार में मलय (मलाया तथा सुमात्रा में) , जावी (जावा के तीन चौथाई भाग में), सुन्दियन (जावा के शेष भाग में), दयिक (बोर्निया में), टगल (फिलीपाइन में), फारमोसी (फारमोसा में), मलगसी के होवा (मेडागास्कर में) भाषाएँ बोली जाती हैं । बहुत पहले भारतीय उपनिवेश होने के कारण जावा, सुमात्रा, नोर्निया तथा बाली आदि द्वीपों की भाषाएँ संस्कृत से अत्यधिक प्रभावित रही हैं ।

(2) आस्ट्रेलियाई परिवार – इस परिवार की भाषाओं की संख्या लगभग एक सी मानी जाती है । ये भाषाएँ आस्ट्रेलियाई तथा तस्मानिया द्वीपों के नागरिकों द्वारा बोली जाती हैं । इन सभी भाषाओं का स्रोत एक ही है । इस समुदाय की प्रधान भाषा मैक्वारी है । मैक्वारी नदी के नाम पर इसका नामकरण हुआ है । वह भाषा उस नदी के आस-पास दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया

में बोली जाती है । आस्ट्रेलिया ब्रिटेन का उपनिवेश रहा है । अतः वहाँ अंग्रेज़ी का वर्चस्व आज भी है । पूरे आस्ट्रेलिया महाद्वीप की आबादी लगभग 2 करोड़ है जिनमें से केवल पचास लाख लोग ही आस्ट्रेलिया परिवार की भाषाओं का प्रयोग करते हैं । इस परिवार की भाषाएँ अश्लिष्ट योगात्मक तथा अन्तः प्रत्यय प्रधान हैं ।

(3) पापुआई परिवार – इस परिवार में लगभग 125 से अधिक भाषाएँ कही जाती हैं, जिनका क्षेत्र मलाया और पॉलिनेशिया के मध्य स्थित न्यूगिनी आदि छोटे-छोटे द्वीप हैं । मफोर इस परिवार की प्रमुख भाशा है, जो न्यूगिनी में बोली जाती है । भाषा वैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से इस परिवार की भाषाओं में अभी तक केवल इसी पर कार्य हुआ है । पापुआई परिवार की भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति को मानी जाती है ।

(4) पॉलीनेशियाई परिवार – इस परिवार की भाषाएँ मलेनेशियाई परिवार की भाषाओं से दक्षिण पूर्व में बोली जाती हैं । इन भाषाओं में न्यूजीलैंड की माओरी, टोंगा की टोंगी, समाओं की समोई, हवाई द्वीप की हवाई, ताहितों की ताहिती तथा मारक्वीन द्वीप की माक्वीसीज आदि भाषाएँ प्रमुख हैं । भाषाओं के दृष्टिकोण से यह भाषा परिवार अत्यधिक समृद्ध है । इन भाषाओं में व्यंजनों का प्रायः अभाव ही है । एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन का इन भाषाओं में अस्तित्व है। ये भाषाएँ वर्तमान में वियोगात्मकता की ओर बढ़ रही है ।

(5) मलेनेशियाई परिवार – मलेनेशियाई परिवार की भाषाएँ प्रशान्त महासागर के फीजी द्वीप तथा आसपास के कुछ अन्य छोटे-छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं । इनमें फीजी द्वीप तथा आसपास के कुछ अन्य छोटे-छोटे द्वीपों में बोली जाती हैं । इनमें फीजी द्वीप की फीजीयन भाषा मुख्य है । कुछ अर्थों में यह मलय भाषा से मिलती-जुलती है, केलीडोनी, हेब्रिडी, ल्यायल्टी, सीलमोनी आदि इस परिवार की अन्य भाषाएँ हैं ।

4. यूरेशिया (यूरोप-एशिया) भूखण्ड –

इस भूखण्ड में अधोलिखित भाषा परिवार शामिल हैं–

(1) द्रविड परिवार – इस भाषा परिवार का प्रयोग भारत के दक्षिणी प्रदेशों में होता है । मुख्य रूप से यह भाषा परिवार नर्मदा तथा गोदावरी से

लेकर सुदूर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक फैला हुआ है । द्रविड़ परिवार की चार प्रधान भाषाएँ हैं जिनका प्रयोग तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा केरल में होता है । इनमें तमिलनाडु में प्रयोग की जाने वाली भाषा सर्वाधिक सम्पन्न भाषा है । इसका प्रयोग श्रीलंका के उत्तरी भाग में भी होता है । इसके बोलने वालों की संख्या वर्तमान में 5 करोड़ से अधिक है । तमिल भाषा के दो रूप शेन् तथा कोडुम प्रचलित हैं । शेन् साहित्यिक भाषा है और कोडुम बोल-चाल की भाषा है । आन्ध्र प्रदेश में प्रयोग की जाने वाली भाषा का नाम तेलुगु है । इसका प्राचीन-साहित्य दसवीं शताब्दी तक का प्राप्त होता है । इस भाषा का साहित्य उच्चकोटि का है । इस पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव अधिक है । इस भाषा का प्रचार उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र तक है । इसके बोलने वालों की संख्या वर्तमान में लगभग 6 करोड़ है ।

द्रविड़ परिवार की तीसरी भाषा कन्नड़ है जो कर्नाटक में बोली जाती है । द्रविड़ परिवार की यह सर्वाधिक प्राचीन भाषा है । भाषिक संरचना की दृष्टि से यह तमिल और लिपि के विचार से यह तेलुगु से काफी मिलती है । इसके बोलने वाले इस समय 2 करोड़ से अधिक हैं । केरल में बोली जाने वाली द्रविड़ परिवार की चौथी भाषा मलयालम है । यह लक्ष्यद्वीप में भी बोली जाती है । इसे तमिल की पुत्री कहते हैं क्योंकि ईसा की नवमीं शताब्दी के लगभग यह तमिल से पृथक् हुई थी । साहित्य की दृष्टि से इसमें संस्कृत शब्दों की प्रधानता है । मलयालम का प्राचीन साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का उपलब्ध होता है । इसका आधुनिक साहित्य पर्याप्त सम्पन्न है । मलयालम बोलने वालों की संख्या 2 करोड़ से अधिक है । द्रविड़ भाषाओं का प्रयोग इन क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्यत्र भी होता है, क्योंकि कुर्ग की भाषा कोडगु अथवा कुर्गी, कुर्ग और महाराष्ट्र प्रान्त के सीमावर्ती छोटे से प्रदेश की भाषा तुलु, नीलगिरि के जंगलों की बोलियाँ टोडा और कोटा, मध्य प्रदेश के एक भाग में बोली जाने वाली भाषा गोंड, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश की सीमा प्रदेशीय बोली ओरांव, बंगाल और बिहार की सीमावर्ती राजमहल की पहाड़ी पर रहने वाली माल्टो जाति की भाषा माल्टी और पश्चिमोत्तर में बलुचिस्तान के एक छोटे से भाग की भाषा ब्राहुई भी द्रविड़ परिवार में शामिल हैं ।

(2) तिब्बत-चीनी परिवार – एशिया के पूर्वी और दक्षिण पूर्वी भाग (चीन, स्याम या थाई, तिब्बत, बर्मा आदि प्रदेशों) के विस्तृत भूखण्ड में बोले जाने वाले इस भाषा परिवार को एकाक्षर परिवार भी कहते हैं । एकाक्षर कहने का कारण यह है कि इस परिवार की भाषाएँ अयोगात्मक हैं । इन भाषाअओं में सुर, स्थान तथा निपात से अर्थबोध होता है । जनसंख्या की दृष्टि से भारोपीय परिवार के बाद इसी परिवार का स्थान है । इस भाषा परिवार को मुख्यतया चार भाषा समूहों में बांटा गया है–चीनी, तिब्बत, बर्मी, अनामी तथा थाई । चीनी शाखा की मुख्य भाषा चीनी है । इसका साहित्य पर्याप्त समृद्ध है । चीनी भाषा में लगभग 4000 वर्ष पुराना साहित्य प्राप्त होता है । चीनी लिपि भी पुरानी है । चीनी भाषा को दो भागों–उत्तरी तथा दक्षिणी में बाँटा जाता है । उत्तरी वर्ग की प्रमुख भाषा मन्दारी है । यह चीन की राजधानी पेइचिंग के आस-पास बोली जाती है । यह चीन की राजभाषा भी है । इसमें कुल सवा चार सौ शब्द हैं । दक्षिणी वर्ग की प्रमुख भाषा केन्टनी तथा फुकिनी है । केन्टनी में आठ-नौ सौ शब्द चलाये जाते हैं । सुर भिन्नता के कारण इन भाषाओं में एक ही शब्द कई अर्थ देता है । तिब्बती-बर्मी समूह की बोलियाँ तिब्बत तथा बर्मा में बोली जाती हैं । इसके अलावा इन भाषाओं के बोलने वाले लद्दाख, भूटान तथा असम में भी फैले हुए हैं । तिब्बती को तो वर्तमान मन्दारी भाषा का राजनैतिक प्रभुत्व भी झेलना पड़ रहा है । अनामी शाखा में यद्यपि चीनी परिवार के मुख्य लक्षण सर्वत्र पाये जाते हैं, तथापि व्याकरणिक भिन्नता के कारण कुछ विद्वानों ने इस भाषा समूह को चीनी परिवार से अलग रखने का सुझाव दिया था । थाई शाखा की प्रमुख भाषा स्यामी है । स्याम देश में प्रचलित इस भाषा का साहित्य समृद्ध है । इस शाखा की शान, अहोम तथा खाम्ती बोलियाँ उत्तर-पूर्वी असम तथा बर्मा में बोली जाती है । चीनी तिब्बती परिवार के बोलने वालों की संख्या इस समय 100 करोड़ के लगभग है । इसमें 53 करोड़ लोग मन्दारी, पाँच करोड़ से अधिक केण्टनी, तीन करोड़ से अधिक स्यामी, तीन करोड़ बर्मी तथा लगभग 80 लाख व्यक्ति तिब्बती भाषा बोलते हैं । आज चीनी भाषा संसार में अधिक बोली जाती है ।

(3) यूराल-अल्टाई परिवार – इस परिवार की भाषाएँ विस्तृत भू-भाग में बोली जाती हैं । इनका विस्तार क्षेत्र पूर्व में आखोअस्क सागर से पश्चिम में

तुर्की, हंगरी तथा फिनलैंड तक, दक्षिण-पश्चिम में भूमध्य सागर से लेकर उत्तर-पूर्व में उत्तरी सागर तक है। इस परिवार के अन्य नाम प्रारम्भ में तूरानी फिनोतातारिक, स्कीथियन आदि रखे गये थे, परन्तु इन नामों को सार्थक नहीं समझा गया और कालान्तर में इस परिवार का नाम यूराल तथा अल्टाई पहाड़ों के नाम पर यूराल-अल्टाई रख दिया गया। मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है—यूराल परिवार तथा अल्टाई परिवार। यूराल परिवार में दो भाषा समूह फीनीउग्री तथा समोयेरी हैं। अल्टाई परिवार में तीन भाषा समूह तुर्की, मंगोली तथा तुगूजी है। फिनीउग्री तथा समीयेरी हैं। अल्टाई परिवार में तीन भाषा समूह तुर्की, मंगोली तथा तुगूजी हैं। फिनीउग्री तथा समोयेरी हैं। अल्टाई परिवार में तीन भाषा समूह तुर्की, मंगोली तथा तुगूजी हैं। फिनीउग्री भाषा समूह में फिनलैंड की भाषा फीनी जिसे सुओमी कहते हैं तथा हंगरी की भाषा मगियार सम्मिलित हैं। चीनी भाषा में प्राचीन साहित्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है। भाषा मगियार सम्मिलित हैं। मगियार बारहवीं सदी से प्राप्त भाषा है। इन भाषाओं पर जर्मन भाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता हें समोयेरी समूह में भाषाएँ नहीं, बल्कि कुछ स्थानीय बोलियाँ शामिल हैं।

अल्टाई भाषा परिवार की मख्य भाषा तुर्की है। इसमें लगभग 28 बोलियाँ हैं, जिनका प्रसार तुर्की से लेकर पूर्वी साइबेरिया की लेना नदी तक है। इनमें तुर्की भाषा तुर्क देश में, किरगिज तुर्किस्तान में, कोसक क्रीमिया में, नागाइर रूप में और माकूत लेना नदी के तटवर्ती क्षेत्र में बोली जाती है। तुर्की की साहित्यिक भाषा उस्मानवी कहलाती है। यह साहित्य सम्पन्न भाषा हैं इसका साहित्य चौदहवीं शताब्दी से उपलब्ध होता है। इस्लाम के प्रभाव के फलस्वरूप तुर्की, अरबी तथा फारसी से प्रभावित हुई है। कहा जाता है कि बीसवीं शताब्दी में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में स्वदेश प्रेमियों ने तुर्की से अरबी शब्दों को खारिज कर दिया। मंगोली मंगोलिया की भाषा हैं तुगूजी की बोलियाँ मंचूरिया तथा साइबेरिया के मध्य भाग में बोली जाती है, परन्तु इसमें साहित्य का अभाव रहा है। यूराल अल्टाई परिवार के भाषा-भाषियों की संख्या 10 करोड़ से अधिक है। इनमें फीनी बोलने वाले लोग 60 लाख, मगियार बोलने वाले लोग एक करोड़ के लगभग, समोयेरी बोलने वाले लोग

30 हजार से अधिक, तुर्की बोलने वाले लोग लगभग 5 करोड़, मंगोली बोलने वाले लोग 40 लाख से अधिक तथा तुगूजी बोलने वाले लगभग 15 लाख हैं ।

(4) काकेशी परिवार – काकेशस पर्वत के समीप काले सागर से कैस्पियन सागर तक फैले हुए क्षेत्र में काकेशी परिवार की भाषाएँ बोली जाती हैं । काकेशस पर्वत के नाम पर ही इस भाशा परिवार का नाम रखा गया है । यह परिवार यूराल अल्टाई, सेमेटिक परिवार तथा भारोपीय परिवार जैसे सशक्त भाषा परिवारों से घिरा होने के बावजूद अपनी निजता तथा स्वाभाविकता खो नहीं पाया है । इस परिवार के दो भाग हैं–उत्तरी काकेशी तथा दक्षिणी काकेशी । इन दोनों भागों में अत्यधिक भेद हैं । उत्तरी काकेशी में स्वरों की कमी, लेकिन व्यंजनों की अधिकता है । इस परिवार में सरकसी, चेचेन तथा लेगी आदि बोलियाँ बोली जाती हैं । दक्षिण काकेशी की मुख्य भाषा जॉर्जियन है । इस भाषा के पास इतना विशाल साहित्य है । इसकी अपनी एक निजी लिपि है । लेकिन इसके विपरीत उत्तर काकेशी वर्ग की किसी भाषा के पास स्वयं की लिपि और साहित्य नहीं है । उत्तरी काकेशी आठ लाख लोगों द्वारा तथा दक्षिणी काकेशी बीस लाख लोगों द्वारा बोली जाती हैं ।

(5) सेमेटिक (सामी) परिवार – इंजील की एक प्राचीन कथा के अनुसार हजरत नीह के ज्येष्ठ पुत्र का नाम सेम था । सेम अरब, असीरिया, सीरिया आदि दक्षिण पश्चिम एशिया के निवासियों के आदि पुरुष माने जाते थे । उन्हीं के नाम पर इस भाषा परिवार का नाम सेमेटिक या सामी रखा गया । विश्व के भाषा परिवारों में इसका विशेष महत्त्व है । महत्त्व के आधार पर प्रथम स्थान भारोपीय, द्वितीय स्थान सैमेटिक तथा तृतीय स्थान चीनी परिवार का है । सेमेटिक परिवार की भाषाओं को दो भागों उत्तरी तथा दक्षिणी में विभाजित किया गया है । उत्तरी वर्ग में प्राचीन फोनेशियर, यहूदी तथा हिब्रू, असीरियन तथा आरमेइक भाषाएँ आती हैं । हिब्रू भाषा मृतप्राय हो चुकी थी, लेकिन इजराइल के निर्माण के बाद यूरोप के सभी यहूदी हिब्रू को पुनर्जीवित करने के लिए एकजुट हुए । सन् 1949 में हिब्रू को राजभाषा बनाकर उसका उद्धार किया गया तथा सन् 1966 में इसे नोबेल पुरस्कार भी प्राप्त हुआ ।

दक्षिणी वर्ग की मुख्य भाषा अरबी है । यह उत्तरी अफ्रीका में पश्चिम मोरक्को से लेकर पूर्व में संयुक्त अरब गणराज्य तक बोली जाती है । यही अरबी अल्जीरिया तथा मोरक्को की राजभाषा है । अरबी भाषा की लोकप्रियता ने कई भाषाओं को महत्त्वहीन कर दिया ।

(6) जापानी तथा कोरियाई परिवार – जापानी जापन देश की पर्याप्त समृद्ध भाषा है । इसमें आठवीं सदी तक का पुराना साहित्य प्राप्त होता है । इस समय इसमें उत्कृष्ट साहित्य रचा जा सकता है । जापानी लोग चीनी से सम्बद्ध है । जापानी की लिखित और बोलचाल की भाषा में अन्तर पाया जाता है । जापानी की लिपि कुछ जटिल है । जापानी बोलने वालों की संख्या 10 करोड़ से अधिक है । कोरियाई कोरिया देश की भाषा है । इस भाषा में चीनी शब्दों की अधिकता है, क्योंकि यह देश बहुत दिनों तक चीन के अधीन रहा । जापानी से इसकी काफी निकटता है । इसीलिए आरम्भ में जापानी और कोरियाई को परस्पर असम्बद्ध समझा जाता था, लेकिन अब दोनों की पारस्परिक सम्बद्धता के सूत्र प्राप्त हो चुके हैं । कोरियाई प्रत्यय विधान श्लिष्ट भाषा है । कोरियाई भाषा की वर्तमान लिपि ब्राह्मी से विकसित मानी जाती है । इसके पहले पन्द्रहवीं शताब्दी तक इसकी लिपि चीनी थी । इस समय तक भाषा के बोलने वाले लगभग पाँच करोड़ हैं ।

(7) अत्युत्तरी या हाइपर बोली परिवार – इसे अत्युत्तरी, पुरा-एशियाई या पेलियो-ऐशियाटिक भी कहते हैं । यह साइबेरिया के उत्तर-पूर्वी कोने में बोली जाती है । इसमें कई बोलियाँ हैं जो परस्पर सम्बद्ध नहीं है ।

(8) यास्क परिवार – यूरोप में पिरेनीज पर्वत के आसपास इसका प्रचलन है । फ्रांस में अढ़ाई लाख तथा स्पेन में एक लाख लोगों के द्वारा बोली जाती है । यह अन्तः योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है । इसका शब्द भण्डार सीमित है । इसकी वाक्य-रचना के विषय में कुछ मतभेद हैं । तारापुरवाला का विचार है कि इसकी वाक्य रचना सरल है ।

(9) एनु परिवार – इस भाषा का कोई साहित्यिक महत्व नहीं है । जापान के उत्तर में स्थित चार-पाँच द्वीपों में यह लगभग 40 हज़ार लोगों द्वारा बोली जाती है । इसकी मात्र तीन बोलियों का ही उल्लेख मिलता है । आकृति

की दृष्टि से यह योगात्मक अश्लिष्ट भाषा है ।

(10) भारोपीय परिवार – इस परिवार की भाषाएँ बोलने वाले संसार में सर्वाधिक हैं । वह परिवार दस शाखाओं में विभाजित है ।

2. द्रविड़ परिवार की तमिल भाषा का परिचय देते हुए इसकी साहित्यिक परम्परा पर प्रकाश डालिये ।

उत्तर – तमिल द्रविड़ परिवार की सर्वाधिक प्राचीन भाषा स्वीकार की जाती है । इसकी उत्पत्ति के विषय में अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि किस समय इस भाषा का प्रारम्भ हुआ । विश्व के विद्वानों ने संस्कृत, ग्रीक, लैटिन भाषाओं की भाँति तमिल को भी अत्यधिक प्राचीन तथा सम्पन्न भाषा माना है । अन्य भाषाओं की तुलना में तमिल भाषा की विशेषता है कि वह 2500 वर्षों से अविरल रूप से आज तक जीवन के सभी क्षेत्रों में व्यवहृत है । तमिल भाषा में उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर यह निर्णय हो चुका है कि तमिल भाषा ईसा से कई सौ वर्ष पहले ही सुसंस्कृत और सुव्यवस्थित हो गई थी ।

तमिल भाषा मुख्यतया भारत के दक्षिणी राज्य तमिलनाडु, श्रीलंका के तमिल बहुल उत्तरी भागों, सिंगापुर और मलेशिया के भारतीय मूल के तमिलों द्वारा बोली जाती है । भारत, श्रीलंका और सिंगापुर में इसकी स्थिति एक आधिकारिक भाषा के रूप में है । इसके अलावा यह मलेशिया, मॉरिशस, वियतनाम, रियूनियन आदि में भी काफी मात्रा में बोली जाती है । लगभग 8 करोड़ तमिल भाषा का प्रयोग मातृभाषा के रूप में करते हैं । यह भारत के तमिलनाडु राज की भाषा है और यह पहली ऐसी भाषा है जिसे सन् 2004 में भारत सरकार द्वारा शास्त्रीय भाषा का स्थान दिया गया । इस भाषा का इतिहास कम से कम तीन हज़ार वर्ष पुराना माना जाता है । तमिल साहित्य पिछले दो हज़ार वर्षों से अस्तित्व में है । तमिल के जो आरम्भिक शिलालेख पाए गए हैं वे लगभग तीसरी शताब्दी ईसापूर्व के हैं ।

'तमिल' शब्द का प्राचीन प्रयोग द्रविड़ भाषा के विख्यात प्राचीन व्याकरण 'तोल्गालियम्' में हुआ है । तमिल विद्वानों के अनुसार यह व्याकरण पाणिनि के अष्टाध्यायी से पहले का है । इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ पाणिनि तथा ऐन्द्र व्याकरण का ऋणी हैं इसके आधार पर यह अनुमान

अवश्य लगता है कि भाषा के अर्थ में 'तमिल' शब्द ईसवी सन् के आरम्भ के लगभग प्रयुक्त हो रहा था। किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा का नाम इतना प्राचीन नहीं है। तमिल के एक अन्य नाम उर्व तथा मालावार भी मिलते हैं। तमिल भाषा का क्षेत्र मुख्य रूप से वर्तमान तमिलनाडु तथा उत्तरी लंका है। तमिल साहित्य बहुत ही सम्पन्न है। वैसे तो इसको पूर्व सीमा पहली सदी के आसपास पहुँचती है, परन्तु नियमित साहित्य रचना लगभग सातवीं सदी से हुई है। तमिल के विख्यात साहित्यकारों से तिरुकुरर (काव्यग्रंथ) के रचयिता तिरुवल्लुवर, 'तिरुष्पावै' तथा 'नाच्चियार' की कवयित्री ओडाल, 'रामायण' के रचयिता कम्बन (12वीं सदी) तथा मीनाक्षी सुन्दरम् आदि हैं। परिनिष्ठित तमिल के दो रूप प्रचलित रहे हैं। 'शेन' (लाल, सुन्दर, पूर्ण या साधु) शिष्ट या साहित्यिक रूप हैं। शेन तमिल में संस्कृत शब्द भी प्रयुक्त होते रहे हैं अब इस शैली में संस्कृत शब्द कम हो गये हैं और उनका स्थान द्रविड़ मूल के तमिल शब्दों ने ले लिया है। दूसरा रूप कोडुन अर्थात् झुका हुआ, ग्रामीण या असाधु है जो बोलचाल का है। तमिल भाषा की एक साहित्यिक शैली 'मणिप्रवाल' नाम से विख्यात है। इसमें संस्कृत शैली की अधिकता रही है। यह शेन तमिल का एक संस्कृत रूप है, जिसमें मुख्य रूप से वैष्णव कवियों ने कविताएँ लिखी हैं।

तमिल लेखन में मुख्य रूप से तमिल लिपि का प्रयोग होता है, जिसमें कवर्ग, चवर्ग आदि पाँचों वर्गों में केवल प्रथम और अन्तिम अक्षर हैं। बी. के. अक्षर नहीं हैं। यह लिपि ब्राह्मी के दक्षिणी रूप से सम्बद्ध है, यद्यपि राघवय्यंगार आदि कुछ तमिल विद्वान् इसका सम्बन्ध मिस्री लिपि से जोड़ते हैं। तमिल लिपि के अक्षर ग्रंथ लिपि से समानता रखते हैं परन्तु 'क' और 'र' ब्राह्मी की उत्तरी शैली से लिए जान पड़ते हैं। तमिल लिपि का एक विकसित घसीट रूप वट्टलेट्टु लिपि है जिसका सातवीं सदी से 14वीं सदी तक प्रचार रहा है। तमिल भाषा की मुख्य बोलियाँ इरुल, कसुव, कोरव, येरुकल, कैकाडी, बरगंडी आदि हैं। यद्यपि मलयालम भी प्राचीन काल में इसकी शैली थी, तथापि अब यह भाषा बन गयी है तमिल भाषा का 'तमिल' या 'तामिल' के रूप में हिन्दी भाषा-भाषी उच्चारण करते हैं। तमिल भाषा के साहित्य तथा निघण्टु में 'तमिल' शब्द का प्रयोग मधुर अर्थ हुआ है। कुछ विद्वानों ने

संस्कृत भाषा के द्रविड़ शब्द से तमिल शब्द की उत्पत्ति मानकर द्राविड़, द्रविड़, द्रमिड, द्रमिल, तमिल आदि रूप दिखाकर तमिल की उत्पत्ति प्रमाणित की है, परन्तु तमिल के अधिकांश विद्वान् इस विचार से सहमत नहीं हैं ।

तमिल में हिन्दी तथा कुछ अन्य भारतीय भाषाओं के विपरीत लिंग-विभेद प्रमुख नहीं होता है । हिन्दी वर्णमाला के कई अक्षरों के लिए तमिल में एक ही वर्ण का प्रयोग होता है, जैसे—क, ख, ग, घ के लिए तमिल में का का प्रयोग होता है । पर तमिल में कुछ वर्ण ऐसे हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में नहीं होता । तमिल भाषा वट्ट एळतु लिपि में लिखी जाती है । अन्य भारतीय भाषाओं की अपेक्षा इसमें कम अक्षर है । देवनागरी लिपि की अपेक्षा इसमें दीर्घ ए तथा दीर्घ ओ भी है । प्रत्येक वर्ग का केवल पहला और अन्तिम अक्षर उपस्थित है, बीच के अक्षर नहीं है । अन्य द्रविड़ भाषाओं तेलुगू, कन्नड़, मलयालम में ये अक्षर विद्यमान हैं । र और ल के अधिक तीव्र रूप भी हैं । वहीं न का कोमलतर रूप भी है । श, ष एक ही अक्षर द्वारा निरुपित हैं । तमिल भाषा की एक विशिष्ट ध्वनि (देवनागरी समकक्ष ळ नया जोड़ा गया) है, जो स्वयं तमिल शब्द में प्रयुक्त है । तमिल में वर्गों के बीच के अक्षरों की ध्वनियाँ भी प्रथम अक्षर से निरुपित की जाती हैं, परन्तु ऐसा कुछ नियमों के अधीन है ।

तमिल साहित्य के आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं भारती । इस काल में भारतियार तमिल काव्य जगत् में इस प्रकार छा गए थे कि कुछ विद्वानों ने इस काल को भारतियर काल कहना उचित समझा । भारती राष्ट्रीयता के प्रथम कवि थे । राजनीतिक दृष्टि से क्रान्तिपूर्ण युग में जन्म लेने पर भी उनके भावुक कवि हृदय ने पांचाली शब्दम् कुयिल पाट्टु, कण्णन पाट्टु, भारतीय अरुपतारु आदि महान् काव्य-कृतियों की सृष्टि की । भारती के अतिरिक्त आधुनिक काल के अन्य विख्यात कवि हैं—भारतीदासन, कविमणि देशिक निनायकम पिळ्ळै, नामक्कल रामलिंगम पिळ्ळै आदि । आधुनिक काल के कवियों में स्वामी शुद्धानन्द भारती कम्बदासन, कि, वा, जगन्नाथन (ज्याति), कण्णदासन, एस, कन्दसामी तुरैवन आदि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । इस काल में गद्य की जिन विधाओं का उदय हुआ, उनमें नाटक,

उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि मुख्य हैं। तमिल में नाटक की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। परन्तु तमिल नाटक अंग्रेज़ी साहित्य की देन है। पूर्वकालीन नाटक यद्यपि रंगमंच पर अभिनीत किए गए और जनता ने उनका स्वागत भी किया परन्तु उनमें नाटकोचित सभी तत्त्व उपलब्ध नहीं है। नाटक के क्षेत्र में प्रथम उल्लेखनीय विद्वान् शंकरदास स्वामिगळ् हैं, जिन्होंने लगभग चालीस नाटक रचकर तमिल नाटक साहित्य को अत्यधिक समृद्ध किया। इसके बाद सुन्दरम् पिळ्ळै ने लिट्नकृत 'दो सीक्रेट वे' के आधार पर मनोमणीयम नामक पद्यबद्ध नाटक की रचना की। सूर्य नारायण शास्त्री ने भी कई नाटक लिखे। स्व. पम्मल सम्बद्ध मुदलियर तमिल नाटकों के पिता कहे जाते हैं।

तमिल में उपन्यास साहित्य का श्रीगणेश श्री वेदनायकम पिळ्ळै कृत 'प्रताप मुदलियार चरित्रम' से होता है। इनके बाद श्री राजम अय्यर नामक एक प्रतिभाशाली उपन्यासकार का उदय हुआ। इनके बाद तमिल के प्राचीन मौलिक उपन्यास लेखकों में श्री माधवय्या पं. नटेश शास्त्री, श्रीमती कोदैनायकी अम्माळ् आदि का नाम लिया जा सकता है। श्री आरणी कुप्पुस्वामी मुदालियर अनुवादक उपन्यासकारों के प्रतिनिधि हैं। स्व. कृष्णमूर्ति 'कल्कि' के आगमन से तमिल उपन्यास साहित्य में एक मोड़ आया। कल्कि ने सामाजिक, ऐतिहासिक, हास्यप्रधान विविध उपन्यासों की रचना की। वर्तमान उपन्यास लेखकों में प्रमुख हैं—शाण्डिल्यन, गोत्री मणिशेखरन्, अखिलन, जग शिर्पियन, डॉ. मु. वरदराजन, आर.के. नारायणन, जीवा आदि। लक्ष्मी, गुहप्रिया, सरस्वती, अम्माळ, अनुत्तमा आदि लेखिकाओं ने भी तमिल उपन्यास साहित्य के विकास में योग दिया है। तमिल भाषा में कहानी-परम्परा भी पर्याप्त प्राचीन है, परन्तु इसमें आधुनिक ढंग से कहानियाँ लिखने की परम्परा का सूत्रपात आधुनिक काल में श्री सुब्रह्मण्यम अय्यर ने किया। इनकी विख्यात कहानी है—मगैयरक्करशियिन कादल। इसी समय भारतियार ने रवीन्द्र एवं टॉलस्टाय से कहानियों का तमिल में अनुवाद किया और कुछ मौलिक कहानियाँ भी लिखीं। इस क्षेत्र में तीन लेखकों के नाम अत्याधिक प्रसिद्ध हैं—स्व. पुदुमैपित्तन, स्व. कु. पं. राजगोपालन और स्व. कल्कि। पुदुमैपित्तन कहानी के बादशाह कहे जाते हैं।

इन्होंने अनेक विषयों पर मौलिक कहानियों की रचना करने के साथ-साथ अन्यान्य भाषाओं की कहानियों का तमिल में अनुवाद भी किया। तमिलज कहानी के आरम्भिक काल के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं—श्री वा.रा. राजाजी, री.कि.वा जगन्नाथन, श्री बोस.एस. रामय्या, श्री मी. प. सोमसुन्दरम्, स्व. देवन, री अखिलन आदि। कहानी लेखिकाओं में राजम कृष्णन, आर. शूडामणि, लक्ष्मी सुब्रह्मण्यम आदि विख्यात हैं।

तमिल का निबन्ध-साहित्य अत्यधिक समृद्ध है। निबन्ध लेखकों की संख्या बहुत अधिक है जिन्होंने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, आध्यात्मिक तथा वैयक्तिक विषयों पर विचारात्मक, भावात्मक एवं हास्य-व्यंग्यप्रधान निबन्ध रचे हैं। तमिल में जीवनी साहित्य के क्षेत्र में डॉ. स्वामीनाथ अय्यर, स्व. श्री वा.रा., डॉ. मु. वरदराजन, मा.पो. शिवज्ञानम्, श्री शुद्धानन्द भारती आदि विख्यात हैं। तमिल में जीवनी साहित्य सम्बन्धी मौलिक एवं अनूदित दोनों प्रकार की कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। तमिल में संस्मरण लिखने की कला भी पर्याप्त विकसित है। कुछ वर्षों से तमिल विद्वानों का ध्यान प्राचीन लोक साहित्य के संकलन एवं प्रकाशन की ओर भी गया है। वर्तमान काल में तमिल के प्राचीन लुप्त ग्रंथों की खोज, विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों के प्रामाणिक संस्करण के प्रकाशन, प्राचीन ग्रंथों के गम्भीर अध्ययन का भी प्रयास किया जा रहा है।

3. द्रविड़ परिवार की तेलुगु भाषा के विकास का वर्णन कीजिए।

अथवा

तेलुगु भाषा की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इसकी साहित्यिक परम्परा का वर्णन कीजिए।

उत्तर – तेलुगु भारतवर्ष के आन्ध्र प्रदेश की प्रमुख भाषा और राजभाषा है। यह द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाओं – तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह भाषा आन्ध्र प्रदेश के अलावा तमिलनाडु, कर्नाटक, ओडिशा तथा छत्तीसगढ़ राज्यों में भी बोली जाती है। इस भाषा के बोलने वाले संख्या में लगभग 8 करोड़ हैं। तेलुगु के अन्य नाम आन्ध्र, तेलगू तथा तेनुगु भी हैं। इनमें आन्ध्र शब्द अधिक व्यापक है क्योंकि

यह उस प्रदेश तथा वहाँ के लोगों का भी वाचक हैं । 'आन्ध्र' शब्द प्राचीन है । ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, रामायण आदि में यह एक जातिबोधक शब्द के रूप में आया है । भाषा के अर्थ में इसका प्रयोग 1000 ई. के लगभग हुआ है । 'तेलुगु' शब्द भाषा के अर्थ में कुछ पहले से व्यवहृत हो रहा था । 'तेलुगु' शब्द का प्रयोग 1200 ई. के लगभग होने लगा । तेलुगु नाम की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में कुछ लोग उसका सम्बन्ध 'त्रिलिंग' से मानते हैं । दक्षिणी परम्परा के अनुसार लिंग अर्थात् शिव तीन पर्वतों कालेश्वर, श्रीशैल तथा भीमेश्वर पर अवतरित हुए । ये तीन पर्वत ही आन्ध्र प्रदेश या तिलंगाने की सीमा बनाते हैं, इसी कारण वह प्रदेश 'त्रिलिंग' या 'त्रिकलिंग' कहलाया, जिसका विकास तेलुगु आदि रूपों में हुआ ।

तमिल भाषा में एक शब्द 'तेन' है जिसका अर्थ 'दक्षिण' होता है । कुछ लोग इस 'तेन' से 'तेनुगु' अर्थात् दक्षिणी भाषा और उससे 'तेलुगु' को उत्पन्न मानते हैं । शिव या लिंग के इसी अवतरण को पृष्ठभूमि में रखते हुए कुछ लोग त्रिनगम् से तेनुगु और उससे तेलुगु का विकास मानते हैं । तेलुगु भाषा अत्यधिक श्रुति मधुर है और उसे पूर्व की 'इतालवी' कहा गया है । इसी आधार पर कुछ तेलुगु भाषी इसके प्राचीन नाम 'तेनुगु' का सम्बन्ध तेन (शहद) से जोड़ते हैं और फिर तेलुगु को तेनुगु का विकास मानते हैं । तमिल लोग आन्ध्र भाषा या तेलुगु को 'वडगु' कहते हैं । 'वड' का अर्थ है 'उत्तर' । तेलुगु प्रदेश तमिल प्रदेश के उत्तर में है । इस प्रकार वडगु का अर्थ है—उत्तरी भाषा । पुर्तगाली इस भाषा के लिए 'जेंटू' शब्द का प्रयोग करते हैं ।

तेलुगु भाषा का मुख्य क्षेत्र वर्तमान आन्ध्र प्रदेश है । इसके अलावा इसके कुछ भाग मैसूर, महाराष्ट्र आदि में भी हैं । तेलुगु को प्रसिद्ध विद्वान् चिलकूरि नारायण राव ने 'आन्ध्र भाषा चरित्र' नामक ग्रंथ में आर्य परिवार की भाषा माना है । वे द्रविड़ परिवार को अलग नहीं मानते । द्रविड़ में तमिल, कन्नड़, मलयालम की अपेक्षा 'तेलुगु' का स्थान कुछ अलग है । तेलुगु भाषा का प्राचीनतम रूप सातवीं सदी के शिलालेखों में प्राप्त होता है । इसमें साहित्य रचना 1050 ई. से शुरू होती है । तब से आज तक इसमें साहित्य रचना होती चली आ रही है, तेलुगु साहित्य का मध्य युग या प्रबन्ध युग (1500 ई.

-1750 ई.) स्वर्ण युग कहा गया है। संस्कृत और हिन्दी के समान तेलुगु में भक्ति, शृंगार तथा नीति के शतक ग्रंथों को एक लम्बी परम्परा उपलब्ध है जिसमें से आज भी लगभग 600 शतक ग्रंथ उपलब्ध हैं। श्रुति माधुर्य के कारण कर्नाटक संगीत की अधिकांश रचनाएँ इसी भाषा में हैं। आन्ध्र के बाहर के तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं के संगीतकारों ने भी गीत-रचना में इसी भाषा का प्रयोग किया है। तेलुगु लिपि ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से विकसित एक बहुत सुन्दर तथा पूर्ण लिपि है। यह कन्नड़ लिपि से अत्यधिक समानता रखती है। तेलुगु की प्रमुख बोलियाँ कोमटाड, सालेवारी, गोलरी, बेरडी, बडरी, कामाठी तथा दासरी हैं।

तेलुगु भाषा के विकास के सन्दर्भ में विद्वानों के दो मत हैं। डॉ. चिलुकूरि नारायण राव के अनुसार तेलुगु भाषा द्रविड़ परिवार की नहीं बल्कि प्राकृतजन्य हैं और उसका सम्बन्ध विशेष रूप से पैशाची भाषा से है। इसके विपरीत विशप कार्डवेल और कोराड रामकृष्णस्य आदि विद्वानों के अनुसार तेलुगु भाषा का सम्बन्ध द्रविड़ परिवार से ही है। सत्य कुछ भी हो, इसका विकास दोनों प्रकार की भाषाओं के मिलन से हुआ है। आजकल तीन नामों से प्रचलित इस भाषा में लगभग 75 प्रतिशत संस्कृत शब्दों का सम्मिश्रण है।

सभी ध्वनियों के लिए लिपिचिह्न प्रायः तेलुगु भाषा में पाए जाते हैं। इसकी विशेषता यह है कि ह्रस्व ए, ओ, दंत्य च, ज एवं शकट रेफ नाम से एक अधिक 'र' के अलावा अर्द्धबिन्दु और 'ळ' बी इस भाषा में हैं। इस प्रकार संस्कृत वर्णमाला की तुलना में तेलुगु वर्णमाला में छह अक्षर अधिक हैं। प्रायः संस्कृत में मंगल, तालु, कला आदि शब्दों के 'ल' वर्ण तेलुगु में 'ळ' से उच्चरित होते हैं। अर्द्धानुस्वार का अस्तित्व उच्चारण में नहीं है। परन्तु भाषा का विकास क्रम जानने के लिए इसके लिखने की आवश्यकता है। कुछ शब्द एक ही प्रकार से उच्चारित होते हुए भी अर्द्धानुस्वार के समावेश से अलग-अलग अर्थ देते हैं। उदाहरण के लिए एड्ड का अर्थ सात संख्या है, उसी को अर्द्धानुस्वार से एँड्डु शब्द लिखा जाए तो इसका अर्थ वर्ष अर्थात् संवत्सर होता है। तेलुगु स्वरान्त अर्थात् अजंत भाषा है, जबकि हिन्दी व्यंजनान्त या हलन्त भाषा है। स्वरान्त भाषा होने के कारण तेलुगु संगीत के

लिए अत्यन्त उपयुक्त मानी गई है। तेलुगु लिपि मोतियों की माला की भाँति सुन्दर प्रतीत होती है। अक्षर गोल होते हैं। तेलुगु और कन्नड़ लिपियों में अत्यधिक समानता है। ईसा के आरम्भ काल की ब्राह्मी लिपि ही आन्ध्र-कर्नाटक लिपि में परिवर्तित हुई। इस लिपि का प्रचार सालंकायन राजाओं के समय सुदूर देशों में भी हुआ। तमिलों ने सातवीं शताब्दी में अपनी अलग लिपि बना ली।

साहित्यकार नन्नय्य ने बहुत पहले संस्कृत महाभारत का तेलुगु रूपान्तर किया। उसके बहुत पहले तेलुगु में लोक-गीतों और लोक-गाथाओं के रूप में तेलुगु का पर्याप्त साहित्य मिलता है। इस प्रकार तेलुगु साहित्य की परम्परा दसवीं शताब्दी से मिलती है। ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक तेलुगु भाषियों को निर्देशित करने वाले प्रमुख ग्रंथ हैं—मन्नय्य, तिक्कन्न और यरां प्रेगड का आन्ध्र महाबारत और पोतन का आन्ध्र भागवतम्। श्रीनाथ का 'नैषधम्' भी तेलुगु साहित्य को इस युग की महत्वपूर्ण देन है। पन्द्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी में एक नये ढंग की स्वतन्त्र रचना का विकास हुआ—प्रबन्ध। इसका आरम्भ राजकवि पेद्दन्नकृत 'मनुचरित्र' से हुआ। प्रबन्ध में वर्णन और कहानी की कुशलता के साथ कल्पना की समृद्ध परम्परा और छन्द रूपों की विविधता होती है। इस क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण रचनाकार क्षेत्रय्य अन्नमाचार्य और त्यागराज, कुचिपुडि आदि हैं।

तेलुगु साहित्य का नव-निर्माण अंग्रेज़ों के आगम के पश्चात् पुनर्जागरण काल में हुआ। इस समय के महत्त्वपूर्ण कवि हैं—वीरेशलिंगम्, चिल कमर्ति, लक्ष्मी नरसिंहगम् और वसुराय। सन् 1905 के राष्ट्रीय आन्दोलन तथा बंकिम चन्द्र एवं रवीन्द्रनाथ के रूप में बंगाली साहित्य का प्रभाव कृष्णा शास्त्री की पीढ़ी पर सबसे पहले पड़ा। मुख्य कवि हैं—रायप्रोलु, सुब्बाराव, अब्बूरी रामकृष्ण राव, शिवशंकर शास्त्री, वेदुल सत्य नारायण शास्त्री, नायनि सुब्बाराम—जो पृथ्वी और स्वर्ग को जोड़ने में सफल होते हैं। इन कवियों द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं—हूण, केकणम्, स्वप्न कुमारम्, उर्वशी, हृदयेश्वरी और दीपावलि। गद्य लेखन का सामर्थ्य होने पर भी कुछ कवियों ने केवल गीत लिखे, यथा—बसव राजु अप्पाराव, मंडूरि सुब्बाराव, पेकिपाटलु और नायडू बाबा। अन्य महत्त्वपूर्ण गीतकार हैं—अडिवि

वापिराजु, विश्वनाथ और पिंगलि । सन् 1935 के उपरान्त तेलुगु कविता में वामपन्थी झुकाव आया अर्थात् वह प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हुई। रोमाण्टिक आन्दोलन के विरुद्ध नई कविताधारा के प्रवर्तक थे धुरंगम श्रीनिवास राव । अन्य कवि हैं—मल्लवरषु विश्वेश्वर राव, पिलका गणपति शास्त्री तथा बुच्चि सुन्दर राम शास्त्री । इस कविता की मुख्य प्रवृत्तिया थीं—आर्थिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता ।

कहानी के क्षेत्र के प्रमुख लेखक हैं—गुरजाड, अप्पाराव, चिन्ता दीक्षितुल एवं उनके अनुयायी मुनिमाणिक्यम् नरसिंह राव आदि । लेखिकाओं में कनुपर्ती बरलक्ष्मम्मा इल्लिलन्दला सरस्वती देवी, मालती चन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं । अडिवि कविराजु पहले चित्रकार एवं गीतिकार थे पर बाद में उपन्यास और कहानी लिखने लगे। आधुनिक नाटक विधा के प्रणेता हरिप्रसाद राव, टी. राघवाचारी और स्थानम् नरसिंह राव आदि हैं । इन्होंने नाटकों में गद्य और पद्य और गीतों का प्रयोग किया । नाटकों के विषय पौराणिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक थे। श्रेष्ठ नाटककार थे—डी. कृष्णमाचार्लु, वेदम् वेंकट राव शास्त्री, मानुंगरि नरसिंह राव और गुरजाट अप्पाराव ।

तेलुगु का साहित्य उच्च एवं विकासशील है । संस्कृत और तेलुगु का सम्पूर्ण समन्वय उस मधुरता और सौन्दर्य से साहित्य को सम्पन्न कर देता है जिससे स्थागराजु के गीत विश्व में प्रसिद्ध हुए । प्रमुख भारतीय भाषाओं के कई शतियों के साहित्य का इतिहास जब लिखा जाएगा, जब उसमें तेलुगु को सम्मानयुक्त स्थान मिलेगा ।

4. द्रविड़ परिवार की मलयालम भाषा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।

अथवा

मलयालम भाषा के उद्‌भव तथा विकास का वर्णन कीजिए ।

उत्तर – द्रविड़ परिवार की मलयालम या कैरली भारत के केरल प्रान्त में व्यवहृत मुख्य भाषा है। यह तमिलनाडु के कन्याकुमारी तथा उत्तर में कर्नाटक के दक्षिण कन्नड़ जिला, लक्षद्वीप तथा अन्य कई देशों में बसे मलयालियों द्वारा भी बोली जाती है । यह वस्तुतः प्राचीन तमिल भाषा की एक शाखा है जो नवीं शताब्दी के लगभग इससे पृथक् हुई । मलयालम बोलने

वालों की संख्या लगभग 5 करोड़ है। भाषा और लिपि के विचार से यह तमिल भाषा के काफी निकट है। इस पर संस्कृत का प्रभाव ईसा के पूर्व पहली सदी से हुआ है। संस्कृत शब्दों का मलयालम शैली के अनुकूल बनाने हेतु संस्कृत में अवतरित शब्दों को संशोधित किया गया है। अरबों के साथ सदियों से व्यापारिक सम्बन्ध और अंग्रेज़ी तथा पुर्तगाली उपनिवेशवाद का प्रभाव भी इस भाषा पर पड़ा है। मलयालम का सन्धि विच्छेद है–मलै मूलशब्द : मलय–अर्थ पर्वत अळम मूलशब्द आलयम, अर्थ स्थान। इस भाषा के बोलने वाले भारत के पश्चिमी घाट के गर्भ में निवास करते हैं इसीलिए यह नाम पड़ा है।

यद्यपि मलयालम भाषा और उसके साहित्य की उत्पत्ति के विषय में सही और विश्वसनीय प्रमाण प्राप्त नहीं है फिर भी मलयालम साहित्य की प्राचीनता लगभग 1000 वर्ष तक की मानी गई है। भाषा के विषय में विद्वान् केवल इस निष्कर्ष पर ही पहुँच सके हैं कि यह भाषा संस्कृतजन्य नहीं है, यह द्रविड़ परिवार की ही सदस्या है, लेकिन यह अभी तक विवादास्पद है कि यह तमिल से अलग हुई उसकी एक शाखा है। अथवा मूल द्रविड़ भाषा से विकसित अन्य दक्षिणी भाषाओं के समान अपना अस्तित्व अलग रखने वाली कोई भाषा है। पर इस बात में सन्देह नहीं है कि मलयालम का साहित्य जब पल्लवित होने लगा था तब तमिल का साहित्य पर्याप्त विकसित हो चुका था। 3100 ईसा पूर्व से लेकर 100 ईसा पूर्व तक यह प्राचीन तमिल का एक स्थानीय रूप थी। ईसा पूर्व प्रथम सदी से इस पर संस्कृत का प्रभाव हुआ। तीसरी सदी से लेकर पन्द्रहवीं सदी के बीच तक मलयालम का मध्यकाल माना जाता हैं इस काल में जैनियों ने भी इस भाषा को प्रभावित किया। आधुनिक काल में सन् 1795 में परिवर्तन आया जब इस राज्य पर अंग्रेज़ी शासन पूर्णरूपेण स्थापित हो गया। इस भाषा की प्रमुख बोली 'बेख' है। इस भाषा का विकास ग्रंथलिपि से हुआ है। कुछ अक्षर वट्टेलुत्तुसे से भी लिए गए माने जाते हैं।

केरल के साहित्य का उल्लेख सर्वप्रथम 9वीं शताब्दी से प्राप्त होता है, परन्तु उस समय के साहित्य की तिथियाँ निश्चित नहीं हैं। 14वीं शताब्दी में मलयालम पूरी विकसित भाषा के रूप में और पर्याप्त साहित्य के साथ सामने

आती है । इस युग के 'लीला तिलकम्' नामक व्याकरण और भाषाशास्त्र के ग्रंथ में उक्त साहित्य के कई उद्धरण दिए गए हैं । बाद में मलयालम संस्कृत से अधिक प्रभावित हुई और कविता में संस्कृत-छन्दों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में मिलता है । वैसे कवियों ने प्रायः मलयालम के छन्दों को ही अपनाया । मलयालम साहित्य के शास्त्रीय काल का आरम्भ पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है जब चेरूश्शेरी कृत 'कृष्णगाथा' रची गई । शास्त्रीय मलयालम के पहले उसमें तीन साहित्यिक सम्प्रदाय दिखाई देते हैं—एक पर संस्कृत का प्रभाव, दूसरे पर तमिल का प्रभाव और तीसरे में लोकगीत तथा अन्य लोक-विधाएँ आती हैं । इन सम्प्रदायों ने एक शास्त्रीय भाषा के निरूपण में योग दिया । एकजुत्रायन ने इस भाषा को स्थायित्व दिया । मलयालम में एकहुआसन का स्थान हिन्दी के तुलसीदास और तमिल के कवि कम्बल के बराबर है । एजहुत्रायन ने अध्यात्म रामायणम् और महाभारतम् की रचना की ।

सत्रहवीं सदी के मध्य से लेकर लगभग 200 वर्षों तक केरल में सर्वाधिक प्रचलित रूप कथाकली था। इसके रचनाकारों में मुख्य हैं—कोट्टारक्कर, तम्पुराज, कोट्टायम करेल वर्मा, उन्नटिय वारियार और इंसानियम्मन थम्प । मलयालम के मध्य युग में अनेक लेखक हुए, परन्तु उनमें सर्वोपरि हैं—कुंचन नम्बियार जो अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए और एजहुत्रायन के समान महत्त्वपूर्ण हैं । कुंचन नम्बियार तुल्लल पट्टु नामक विधा के जनक माने जाते हैं, उसके उन्नायक भी हैं और केरल के जनकवि हैं । उन्होंने पुराणों से अपनी कथाएँ लीं । उन्होंने पुराणों को स्थानीय परिप्रेक्ष्य में ढाला और सरल एवं जन-सुलभ भाषा में कथाएँ लिखीं । उनकी कविता साहित्यिक गुणों से भरपूर है । इस काल में प्राचीन शैली के गद्य को छोड़कर नयी शैली में साहित्यिक गद्य लिखा गया । इस काल के मुख्य लेखक यन्तु मेनन की प्रसिद्ध रचना है उपन्यास 'इन्दुलेखा' । गद्य और पद्य दोनों में मध्य मार्ग खोजकर मलयालम भाषा के विकास का मार्ग प्रशस्त करने वाले थे—ए. आर. राजराज वर्मा ।

लोगों की रुचि में क्रान्तिकारी बावना को व्यक्त करते हुए आधुनिक युग में सबसे पहले कुमारन् आशान ने 'नलिनि' नाम से एक छोटी-सी कविता

की रचना की। इस कविता का वर्ण्यविषय था—उदात प्रेम। मलयालम साहित्य में काव्य की आधुनिक अवस्था में पर्याप्त समय लगा। इस आन्दोलन के प्रमुख लेखक हैं—बल्लतोल और आशान् के अतिरिक्त एक अन्य लेखक ने नये आन्दोलन को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया—वह थे उल्लूर परमेश्वर ऐय्यर। इन्होंने कई अच्छी कहानियाँ लिखीं। आधुनिक लेखकों में सर्वाधिक बहुमुखी प्रतिभा वाले लेखक हैं—सरदार का. मा. पणिक्कर। वे उपन्यासकार, नाटककार, आलोचक, इतिहासकार सभी कुछ हैं। नारी साहित्यकारों में महत्त्वपूर्ण नाम हैं—तट्टक्काटर, इक्का वम्मा, नालप्पाट्ट, वालामणी अम्मा, ललिताम्बिक आदि। सन् 1936 के लगभग मलयालम कविता ने नया मोड़ लिया। उसको वामपन्थी राजनीति से प्रेरणा मिली। हिन्दी में इसे प्रगतिवाद कहते हैं और मलयालम में 'युरोगमन वादम्'। इस परम्परा में मुख्य नाम हैं—एल.वी. कृष्ण वारियर, अक्कोत्तम, ओलप्पमण्णा, वयलार राम वर्मा, पी. भास्करन्, गोविन्दन नायर, ओ. एन. वी. कुरुप्प, अनुजन, पी. कुञ्चिरायन् नायर, के. के. राजा आदि।

सन् 1919 के बाद का युग गद्य साहित्य के लिए विख्यात है। इसमें गद्य की सभी विधाओं—कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना, जीवनी, यात्रा साहित्य, संस्मरण, रेखाचित्र, साहित्य का इतिहास, भाषा-शास्त्र, पत्र-पत्रिकाएँ आदि का पूर्ण विकास हुआ। प्रत्येक विधा के सर्वाधिक प्रसिद्ध एक लेखक का नाम है—कहानी (तकषी), नाटक (सी.पी. रामन पिल्लई), आलोचना (पी. के. नारायण पिल्लई और के. रामकृष्ण पिल्लई), जीवनी (पी.के. नारायण पिल्लई), यात्रा साहित्य (के.पी. केसव मेनन), साहित्य का इतिहास (पी. गोविन्द पिल्लई), भाषा शास्त्र (ए.आर. राजाराज वर्मा और अट्टूर कृष्ण पिपारैडि), पत्र-पत्रिकाएँ (मलयाला मनोरमा सं. कण्डत्तिल मप्पिल्लर), कुछ अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं के नाम हैं—विद्या विनोदिनी, मंगलोदयम्, मातृभूमि, कोल्ल आदि। इस युग में कुछ श्रेष्ठ अनुवाद भी प्रकाशित हुए। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में साहित्य उच्च वर्ग तक सीमित था, सन् 1915 और 1936 के बीच साहित्य मध्य वर्ग की वस्तु बन गया—प्रायः अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की वस्तु बन गया, तीसरे दशक के बाद साहित्य जनसाधारण

की वस्तु बन गया। प्राचीन पाण्डित्य शैली के स्थान पर जो आधुनिकतम साहित्य आया वह अधिक ओजस्वी, प्रामाणिक और जगजीवन से घनिष्ठतापूर्वक सम्बद्ध है।

5. कन्नड़ भाषा पर सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।

अथवा

द्रविड़ परिवार की कन्नड़ भाषा के उद्‌भव तथा विकास का वर्णन कीजिए।

उत्तर – द्रविड परिवार की कन्नड़ या कैनडीज भारत के कर्नाटक राज्य में बोली जाने वाली प्रमुख भाषा है। यह कर्नाटक प्रदेश की राजभाषा है। यह भारत की सबसे ज़्यादा प्रयोग की जाने वाली भाषाओं में से एक है। लगभग 5 करोड़ लोग कन्नड़ भाषा का प्रयोग करते हैं। यह भाषा एन्कार्टा के अनुसार विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली तीस भाषाओं की सूची में सत्ताइसवें स्थान पर आती है। इसमें संस्कृत के बहुत शब्द हैं। कन्नड़ भाषा प्रयोग करने वाले इसको विश्वास से 'सिरिगन्नड' बोलते हैं। कन्नड़ भाषा लगभग 2500 वर्ष से उपयोग में है। कन्नड़ लिपि लगभग 2000 वर्ष से उपयोग में है। तेलुगु, तमिल और मलयालम इस भाषा से मिलती-जुलती भाषाएँ हैं। संस्कृत भाषा से बहुत प्रभावित हुई इस भाषा में संस्कृत के बहुत से शब्द उसी अर्थ में प्रयोग किये जाते हैं। कन्नड़ भारत की बाईस आधिकारिक भाषाओं में से एक है।

कन्नड़ तथा कर्नाटक शब्दों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में एक विद्वान् का मत है कि 'कंरिदुअनाडु' अर्थात् 'काली मिट्‌टी का देश' से कन्नड़ शब्द बना है तो दूसरे विद्वान् के अनुसार 'कपित नाडु' अर्थात् 'सुगन्धित देश' से 'कन्नाडु' और कन्नाडु से कन्नड़ की उत्पत्ति हुई है। कन्नड़ साहित्य के इतिहासकार आर. नरसिंहाचार ने इस मत को स्वीकार किया है। कुछ वैयाकरणों का मानना हे कि कन्नड़ संस्कृत शब्द 'कर्नाट' का तद्‌भव रूप है। यह भी कहा जाता है कि 'कर्णयो अटति इति कर्नाटक' अर्थात् जो कानों में गूंजता है वह कर्नाटक है। प्राचीन ग्रंथों में कन्नड़ के लिए कन्नड, कर्नाट, कर्नाटक शब्द समानार्थ में प्रयोग हुए हैं, महाभारत में कर्नाट शब्द का प्रयोग कई बार हुआ है—कर्नाटकश्च कुटाश्च पद्‌मजालाः सतीनराः (सभापर्व 78.

94) कर्नाटका महिषिका विकल्पा मूषकास्तथा (भीष्मपर्व 58.59)। दूसरी शताब्दी में लिखे हुए तमिल 'शिलप्पदिकारम्' शीर्षक काव्य में कन्नड़ भाषा बोलने वालों का नाम 'करुनाडर' बताया गया है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता, सोमदेव की कथासरित्सागर, गुणाढ्य की पैशाची बृहत्कथा आदि ग्रंथों में भी कर्नाट शब्द का उल्लेख मिलता है। अंग्रेज़ी भाषा में कर्नाटक शब्द विकृत होकर कर्नाटक अथवा केनरा, फिर केनरा से केनारीज बन गया है। उत्तरी भारत की हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में कन्नड़ शब्द के लिए कनाडी, कन्नडी, केनारा, कनारी का प्रयोग मिलता है। वर्तमान में कर्नाटक तथा कन्नड़ शब्दों का निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है—कर्नाटक प्रदेश का नाम हे और कन्नड़ भाषा का।

द्रविड़ भाषा परिवार की भाषाएँ पंचद्राविड़ भाषाएँ कहलाती हैं। किसी समय इन पंचद्राविड़ भाषाओं में कन्नड़, तमिल, तेलुगु, गुजराती तथा मराठी भाषाएं शामिल थीं परन्तु वर्तमान में पंचद्राविड़ भाषाओं के अन्तर्गत कन्नड़, तमिल, तेलुगु, मलयालम तथा तुलु मानी जाती हैं। वास्तव में तुलु कन्नड़ की ही एक पुष्ट बोली है जो दक्षिण कन्नड़ जिले में बोली जाती है। तुलु के अलावा कन्नड़ की अन्य बोलियाँ हैं—कोडगु, तोड, कोट तथा बडग। कोडगु कुर्ग में बोली जाती है और बाकी तीनों का नीलगिरि जिले में प्रचलन है। नीलगिरि जिला तमिलनाडु राज्य के अन्तर्गत हैं रामायण-महाभारत-काल में भी कन्नड़ बोली जाती थी, तो भी ईसा के पूर्व कन्नड़ का लिखित रूप उपलब्ध नहीं होता। प्रारम्भिक कन्नड़ का लिखित रूप शिलालेखों में मिलता है। इन शिलालेखों में हल्मिडि नामक स्थान से प्राप्त शिलालेख सर्वाधिक प्राचीन है, जिसका रचनाकाल 450 ई. है। सातवीं शताब्दी में लिखे गये शिलालेखों में बादामी और श्रवणबेलगोला के शिलालेख महत्त्वपूर्ण हैं। प्रायः आठवीं शताब्दी के पहले के शिलालेखों में गद्य का ही प्रयोग हुआ है और उसके बाद के शिलालेखों में काव्यलक्षणों से युक्त पद्य के श्रेष्ठ नमूने प्राप्त होते हैं। इन शिलालेखों की भाषा जहाँ सुगठित तथा प्रौढ है वहाँ उस पर संस्कृत का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार यद्यपि आठवीं शताब्दी तक के शिलालेखों के आधार पर कन्नड़ में गद्य-पद्य रचना का प्रमाण मिलता है तो भी कन्नड़ के

उपलब्ध सबसे पहले ग्रंथ का नाम 'कविराजमार्ग' के उपरान्त कन्नड़ में ग्रंथ निर्माण का कार्य उत्तरोत्तर बड़ा और भाषा निरन्तर विकसित होती गई। कन्नड़ भाषा के विकासक्रम की चार अवस्थाएँ मानी गई हैं–

(1) अतिप्राचीन कन्नड़ (आठवीं शताब्दी के अन्त तक की अवस्था),

(2) हळ कन्नड़-प्राचीन कन्नड़ (9वीं शताब्दी के आरम्भ से 12वीं शताब्दी के मध्यकाल तक की अवस्था)

(3) नडु गन्नड-मध्ययुगीन कन्नड़ (12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की अवस्था), और

(4) होस गन्नड-आधुनिक कन्नड़ (19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से अब तक की अवस्था)।

चारों द्रविड़ भाषाओं की अपनी अलग-अलग लिपियाँ हैं। डॉ. एम. एच. कृष्ण के अनुसार इन चारों लिपियो का विकास प्राचीन अंशकालीन ब्राह्मी लिपि की दक्षिणी शाखा से हुआ है। बनावट की दृष्टि से कन्नड़ और तेलुगु में तथा तमिल और मलयालम में समानता है। 13वीं शताब्दी के पूर्व लिखे गए तेलुगु शिलालेखों के आधार पर यह कहा जाता है कि प्राचीन काल में ही तेलुगु और कन्नड़ की लिपियाँ एक ही थीं। वर्तमान कन्नड़ की लिपि बनावट की दृष्टि से देवनागरी लिपि से पृथक् दिखाई देती है, किन्तु दोनों के ध्वनिसमूह में अधिक अन्तर नहीं हैं अन्तर इतना ही है कि कन्नड़ में स्वरों के अन्तर्गत 'ए' औ 'ओ' के ह्रस्व रूप तथा व्यंजनों के अन्तर्गत वर्त्स्य 'ल' के साथ-साथ मूर्द्धन्य 'ल' वर्ण भी पाए जाते हैं। प्राचीन कन्नड में 'र' और 'ळ' के एक-एक मूर्द्धन्य रूप को प्रचलन था, परन्तु आधुनिक कन्नड़ में इन दोनों वर्णों का प्रयोग समाप्त हो गया है। शेष ध्वनिसमूह संस्कृत के समान है। इसकी वर्णमाला में 52 वर्ण हैं।

कर्नाटक प्रदेश में जैनों के आगमन से कन्नड़ साहित्य का इतिहास शुरू हुआ और छठी-सातवीं शताब्दियों के शिलालेखों में उसका सार्थक रूप पाया जाता हैं इस काल की साहित्यिक रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। कन्नड़ का पहला प्राप्त ग्रंथ है–कविराज मार्ग (825 ई.) जो काव्य-शास्त्र विषयक हे। प्रथम

गद्य ग्रंथ है—वड्डाराधले। इसके बाद 925 से 1156 ई. के बीच का काल-खण्ड चम्पू महाकाव्यों का हे और यह कन्नड़ साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता है। उस समय के रचनाकारों में प्रसिद्ध नाम हैं—पंप, पोन्न और रल्ल। सन् 1150 और 1336 ई. के बीच का काल-खण्ड साहित्य और जीवन में वीर शैव क्रान्ति का युग है। इनमें से नई साहित्य विधाएँ जैसे वचन या छोटे गद्य-गीत और नये छन्द जैसे रगले त्रिपदी और षटपदी निकले। गद्य-शैली बोलचाल की भाषा के समीप आ गई। सन् 1336 से 1575 ई. तक का युग स्वर्ण विजयनगर युग था जिसमें दासों या वैष्णव सन्त कवियों की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। महत्त्वपूर्ण कवि हैं—कुमार व्यास, लक्ष्मीश और रत्ना करवर्णी तथा वैर शैव रहस्यवादी कवि निज गुण शिवयोगी।

सन् 1575 से 1700 ई. तक मुख्य रूप से पुरानी साहित्यिक विषय वस्तु ही आगे चलती रही। विजयनगर के विध्वंस के पश्चात् बदली हुई समाज-व्यवस्था की ओर सर्वज्ञ जैसे व्यंग्यकार निर्देश करते हैं। 8वीं शती में मैसूर के चिक्कदेव राय के आश्रय में चप्पू काव्य लिखे गये। साथ ही गद्य पर विशेष जोर दिया गया। 19वीं शती के द्वितीय दशक तक ये पुराने विषय ही चलते रहे। आधुनिक काल इसी समय शुरू होता है।

उन्नीसवीं शताबदी के मध्य में होने वाले विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलनों का प्रभाव कन्नड़ साहित्य पर भी पड़ा। इस समय के कुछ स्थानीय लेखकों और मिशनरियों के लेखन पर यह प्रभाव दिखाई देता है। मध्य युग की प्रवृत्तियाँ आधुनिक रूप ग्रहण करने लगीं। केम्पू नारायणकृत 'मुद्रा-मंजुषा' (1823) इस परिवर्तित प्रवृत्ति का पहला उदाहरण है। मैसूर राज्य के राजा मुम्मडि कृष्ण राय (1794-1868) स्वयं साहित्य के रचयिता भी थे और साहित्यिकों के आश्रयदाता भी थे। उनके नाम पर कई गद्य रचनाएँ मिलती हैं। अंग्रेज़ी साहित्य के प्रभाव ने कन्नड़ गद्य में नयी विधाओं निबन्ध, उपन्यास, छोटी कहानी, आत्म-कथा, जीवन-चरित, पत्र, गीति-काव्य आदि को विकसित किया। पश्चिमी साहित्य ने जिस प्रकार बंगला में बंकिम चन्द्र और मराठी में आप्टे को दिया, उसी प्रकार कन्नड़ ने वेंकटाचार्य और गलगनाथ को दिया। इसी युग में अतुकान्त नाटक,

शोकान्तिका और ऐतिहासिक नाटक लिखे गये। वैज्ञानिक चिन्तन तथा आण्विक शोध ने क्रान्ति कर दी और तरुण साहित्यकारों ने नया शिल्प आरम्भ किया। जैसे कैलासम् और आद्य के नाटकों में और गोकाक तथा पी. सदाशिवराव की कविता में इन प्रभावों को देखा जा सकता हैं अब कन्नड़ में सभी प्रमुख भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानों पर पुस्तकें मिलती हैं। बच्चों और निरक्षर प्रौढ़ों के लिए भी नया साहित्य रचा जा रहा है। कन्नड़ की पत्रिका भी बहुत ऊँचे स्तर पर पहुँच गई है। लोक-कविता का भी पुनर्जागरण हुआ, जिनमें वीर गाथाओं तथा अन्य गीतों के लिए प्रेरणा थी। इस क्षेत्र में वेन्द्रे और मधुर चेन्न के नाम उल्लेखनीय हैं।

उन्नीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध नव-जीवन की हलचल से ओतप्रोत है। पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया और पुनर्जागरण इस युग के प्रधान विषय हैं। अनुवादों के माध्यम से संस्कृत तथा अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ ग्रंथों का प्रभाव कन्नड़ में बराबर आता रहा। नाटक, उपन्यास, जीवनियाँ और आलोचना धीरे-धीरे अपने सच्चे रूप में विकसित होने लगे। इन सभी विधाओं में उपन्यास सबसे अधिक सुस्थापित था। एम.एस. पुद्दण्ण कन्नड़ कथा साहित्य में वास्ववाद के सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवर्तक थे। इस युग में कई कन्नड़ साहित्यिक पत्रिकाएँ आरम्भ हुई और नये साहित्यिक रूप विकसित होते रहे। गीत भी बदले। शैली-शिल्प, छन्द, कल्पना-चित्रों सबमें परिवर्तन दिखाई दिया। सन् 1900-1920 का काल अधिक निश्चित और विविध उपलब्धियों का काल हैं श्री रामाराव, आलूर, मुद्वीडु, मुलिय, तिम्मप्पम्य, पंजे मंगेश राव, नरसिंहाचार, एस, कट्टी, वी, एम, तट्टी शांतकवि, काव्यानन्द आदि इस काल के उल्लेखनीय साहित्यकार हैं। सन् 1920 के बाद कन्नड़ साहित्य अपने स्वर्ण युग में प्रवेश करता है। गद्य-पद्य में प्रायः सभी विधाओं का पूर्ण विकास हुआ तथा अनेक साहित्यकार सामने आए। प्रमुख नाम हैं—वेंकटगिरि ए. एन. कृष्णराव, के. वि, अय्यर, टी.पी. कैलासम्, गरुड, सी. के. वैंकटरामय्य, के. वी. राघवाचार, मास्ति, ए.एन. मूर्तिराव, एन.के. कुलकर्णी, डी.वी. गुण्डप्पा, टी.एन. श्री कट्टय्यम् आदि। इन सभी साहित्यकारों ने एक से अधिक साहित्यिक विधाओं में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

सन् 1919 में द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू हुआ, सन् 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन हुआ तथा सन् 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ। साम्प्रदायिक दंगे, भारतीय रियासतों का विलयीकरण, गाँधजी की हत्या, गोआ का मुक्ति-आन्दोलन और भारत में भाषावाद, राज्यों का पुनर्गठन आदि अनेक नाटकीय घटनाएँ घटित हुई। इन सब प्रभावों ने अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य के समान कन्नड़ के साहित्य को नवीन रूप प्रदान किए। प्रगतिशील आन्दोलन अधिक ज़ोर पकड़ गया, वह मानो नवीन तरुण साहित्यिक पीढ़ी के उदय का एक केन्द्रबिन्दु बन गया। 'एक ऋषि' इस नवीन चेतना को सिद्ध करने वाले गीतों का संकलन था। समग्र-रूप से विविध साहित्य प्रकारों में विविध उपलब्धियाँ प्राप्त हुई। इस प्रकार कन्नड़ साहित्य एक नये संश्लेषण की ओर तीव्र गति से गतिमान है।

6. भाषाओं के तिब्बत-चीनी परिवार का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिये।

अथवा

तिब्बत-चीनी परिवार की प्रमुख भाषाओं का वर्णन कीजिए।

उत्तर – एशिया के पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी भाग अर्थात् चीन, स्याम या थाई, तिब्बत, बर्मा आदि प्रदेशों के विस्तृत भूखण्ड में बोले जाने वाले तिब्बत-चीनी भाषा परिवार को एकाक्षर परिवार भी कहते हैं। कारण इस परिवार की भाषाएँ अयोगात्मक हैं। इन भाषाओं में सुर, स्थान तथा निपात से अर्थ बोध होता है। जनसंख्या के दृष्टिकोण से भारतीय परिवार के बाद इसी परिवार का स्थान है। इस भाषा परिवार को मुख्य रूप से चार भाषा समूहों में विभाजित किया गया है—चीनी, तिब्बत-बर्मी, अनामी तथा थाई। चीनी शाखा की मुख्य भाषा चीनी है। इसका साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। चीनी भाषा में लगभग 4000 साल पुराना साहित्य उपलब्ध है। चीनी लिपि भी पुरानी है। चीनी भाषा के दो भागों—उत्तरी तथा दक्षिणी में विभाजित किया गया है। उत्तरी वर्ग की मुख्य भाषा मन्दारी है। यह चीन की राजधानी पेइचिंग के आस-पास बोली जाती है। यही चीन की राजभाषा भी है। कहते हैं कि इसमें कुल 425 शब्द हैं। दक्षिणी वर्ग की प्रधान भाषा केन्टनी तथा फुकिनी हैं केन्टनी में 800-900 शब्द बताये जाते हैं। सुर भिन्नता के फलस्वरूप इन भाषाओं में

एक ही शब्द अलग-अलग अर्थ देता है। तिब्बती-बर्मी समूह की बोलियाँ तिब्बत तथा बर्मा में बोली जाती हैं। इसके अतिरिक्त इन भाषाओं के बोलने वाले लद्दाख, भूटान तथा असम में भी फैले हुए हैं। तिब्बती को तो इस समय मन्दारी भाषा का राजनीतिक प्रभुत्व भी झेलना पड़ रहा है। अनामी शाखा में यद्यपि चीनी परिवार के मुख्य लक्षण सर्वत्र पाये जाते हैं, फिर भी कुछ व्याकरणिक भिन्नता के फलस्वरूप कुछ विद्वानों ने इस भाषा समूह को चीनी परिवार से अलग रखने का सुझाव दिया था। थाई शाखा की मुख्य भाषा स्यामी है। स्याम देश में प्रचलित इस भाषा में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है। इस शाखा की शान, अहोम तथा खाम्ती बोलियाँ उत्तर-पूर्व असम तथा बर्मा में बोली जाती हैं। चीनी तिब्बती परिवार के बोलने वालों की कुल जनसंख्या वर्तमान में लगभग अस्सी करोड़ है। इसमें 53 करोड़ लोग मन्दारी, पाँच करोड़ से ऊपर केण्टनी, 3 करोड़ से ऊपर स्यामी, 3 करोड़ बर्मी तथा लगभग 80 लाख व्यक्ति तिब्बती भाषा बोलते हैं।

तिब्बत-चीनी परिवार की विभिन्न भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) इस परिवार की भाषाएँ स्थान-स्थान या अयोगात्मक हैं। दो शब्द एक में नहीं मिलते। सम्बन्ध का पता प्रायः शब्द के स्थान से ही चल जाता है। हुआ-पओ-मीन – राजा प्रजा की रक्षा करता है। पर यदि उल्टा कहना होगा तो वाक्य में और किसी भी तरह का परिवर्तन न करके मात्र स्थान-परिवर्तन कर देंगे। 'मीन पओ हुआ' = प्रजा राजा की रक्षा करती है।

(2) प्रत्येक शब्द एक अक्षर का होता है। वह एक प्रकार से अव्यय है जो न बढ़ता है, न घटता है और न विकृत होता है। वाक्य में चाहे जहाँ भी रखें , उसके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(3) इस परिवार की भाषाओं में यह समस्या है कि इतने कम शब्द कैसे इतने अधिक अर्थ व्यक्त करते हैं। इसके लिए ये लोग सुर या तान का प्रयोग करते हैं। एक शब्द विभिन्न सुरों में विभिन्न अर्थ देता है। वैसे तो प्रधान चार ही सुर हैं, किन्तु कुछ उपभाषाओं या बोलियों में इससे कम या अधिक सुर भी अपवादस्वरूप मिलते हैं जेसे 'मंदारिन' में पाँच सुर हैं।

(4) केवल सुरों से पूरी स्पष्टता नहीं आ पायी, अतः इसके लिए वे लोग एक और उपाय से काम निकालते हैं। इनके यहाँ द्वित्व प्रयोग चलता है। इसमें एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। जैसे ताओ–सड़क, झंडा, गल्ला, झक्कन इत्यादि या 'लू' = ओस, जवाहर, घुमाव, सड़क इत्यादि। इस प्रकार 'ताओ' और 'लू' दोनों के अर्थ 'सड़क' हैं। यदि सड़क के लिए दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग करें तो किसी भी प्रकार की गड़बड़ी का डर नहीं रह जाता। अतः सड़क के लिए 'ताओ लू' शब्द प्रयुक्त होता है। ऐसे प्रयोगों को द्वित्व प्रयोग कहते हैं। चीनी भाषा में इसका अत्यधिक प्रयोग होता है। इसमे सर्वदा पर्याय शब्द ही नहीं रखे जाते। कभी-कभी अन्य ऐसे शब्द भी रख दिये जाते हैं, जिनमें अर्थ स्पष्ट हो जाए। जसे नमक के साथ बारीक या रोड़ा, पानी के साथ गम्र या ठण्डा आदि।

(5) भारोपीय परिवार के समान इसमें भाषा का व्याकरण नहीं है। एक ही शब्द स्थान और आवश्यकतानुसार संज्ञा, क्रिया, विशेषण आदि हो जाता है। 'त' शब्द का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका अर्थ 'बड़ा' बड़ाई तथा 'बड़ा होना' आदि हैं।

(6) यह स्थान प्रधान भाषा है, पर कभी-कभी केवल शब्दों के स्थान से स्पष्ट नहीं हो पाता तो सहायक शब्दों की जरूरत पड़ती है, इसे ही कुछ लोगों ने चीनी का निपात-प्रधान होना माना है। इस दृष्टि से चीनी शब्दों के दो वर्ग होते हैं–पूर्ण शब्द और रिक्त शब्द। पूर्ण शब्द वे हैं जो कुछ अर्थतत्त्व रखें और रिक्त शब्द वे हैं जा केवल सम्बन्ध व्यक्त करें, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ का पूरा शब्द समूह इन दो भागों में विभाजित है। बहुत से पूर्ण शब्द आवश्यकता पड़ने पर रिक्त बना लिये जाते हैं। इस प्रकार प्रयोग होने पर ही कहा जा सकता है कि कौन शब्द रिक्त है और कौन पूर्ण। जैसे 'छिह' शब्द का अर्थ 'जाना', 'वह', 'सम्बन्ध', 'रखना' आदि होता है, पर कभी-कभी यह सम्बन्धकारक की विभक्ति का काम भी करता है। जैसे–मु =माता, त्जु=पुत्र, मु छिह तु=माता का पुत्र।

(7) चीनी भाषा में पूर्ण शब्द भी दो प्रकार के माने जाते हैं—एक तो वे जो जीवित हैं और क्रिया जिनका प्रधान गुण है। दूसरे वे जो मृत या जड़ हैं और स्वयं कुछ कर नहीं सकते। जीवित शब्द अपनी क्रिया इन्ही मृत शब्दों पर करते हैं। यह विभाजन भी बहुत निश्चित नहीं है।

(8) अनुनासिक ध्वनियों के प्रयोग की यहाँ अधिकता है। इस परिवार की तिब्बती, बर्मी आदि भाषाओं को लिपियाँ ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री हैं।

तिब्बत-चीनी परिवार का विभाजन – तिब्बत-चीनी परिवार का विभाजन कई विद्वानों ने कई प्रकार से किया है। विद्वान् इसे चीनी, ताई या स्यामी और तिब्बती-बर्मी मूल रूप से इन तीन वर्गों में विभाजित करते हैं और फिर उनके भेदोपभेद करते हैं। कुछ विद्वान् चीनी, स्यामी, तिब्बती और मीं इन चार वर्गों में विभाजित करते हैं। कुछ लोग येनिसेई-ओस्त्यक तथा काटिश को मिलाकर एक पाँचवाँ वर्ग भी बनाते हैं। सर्वाधिक मान्य वर्गीकरण निम्नांकित हैं–

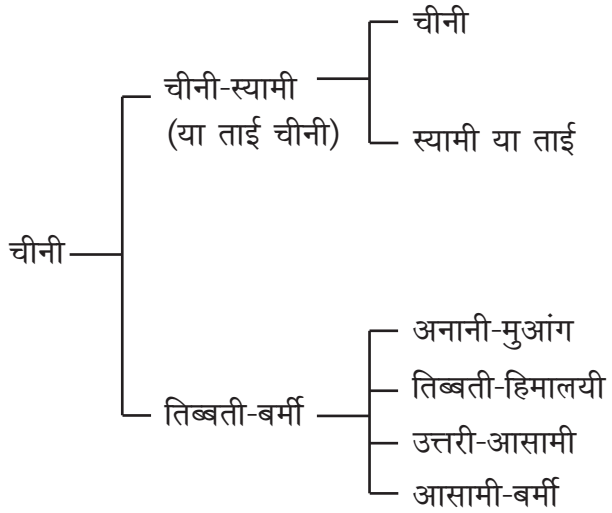

चीनी भाषा – इस भाषा का एक प्राचीन नाम 'नाम' भी प्राप्त होता है। चीनी का प्रमुख क्षेत्र चीन है। इसके बोलने वालों की संख्या वर्तमान में

लगभग 120 करोड़ है। बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से यह भाषा विश्व मं पहले नम्बर पर है। दूसरा नम्बर अंग्रेज़ी का और तीसरा हिन्दी का है। चीनी परिवार की मुख्य विशेषता उसका सुर युक्त होना हैं इसको कुछ बोलियों में आठ सुर तक माने गये हैं। परिनिष्ठित चीनी में चार सुर हैं। इसकी विशेषता है इसकी एकाक्षरता। इसके मूल शब्द प्रायः एकाक्षर हैं। तीसरी विशेषता के रूप में इसकी अयोगात्मकता या स्थान-प्रधानता का वर्णन किया जा सकता है। इसमें सम्बन्ध तत्त्व संस्कृत आदि के समान विभक्ति, प्रत्यय आदि के रूप में नहीं हैं। कुछ सम्बन्ध तत्त्वों हेतु कुछ स्वतन्त्र शब्द होते हैं, जिन्हें रिक्त शब्द कहते हैं। इनका काम व्याकरिणक सम्बन्ध दर्शाना होता है। अन्य सम्बन्धों का पता शब्द के स्थान से चल जाता है। विशेष स्थान पर एक ही शब्द कर्ता होता है, पर वही शब्द बिना किसी परिवर्तन के ही किसी अन्य स्थान पर कर्म हो जाता है।

आधुनिक चीनी की मुख्य बोलियाँ हैं—मंदारिन (उत्तरी मंदारिन, दक्षिणी मंदारिन, दक्षिणी-पश्चिमी मंदारिन) फूचो, अमोयी, निगपो, स्वातो, बेन्चो, मेहससीन तथा कैंटनी। पीपिडकी या उत्तरी मंदारिन का कुओयू रूप चीन की राष्ट्रभाषा है। वैसे तो ये सभी चीनी भाषा की बोलियाँ हैं, किन्तु इनमें कुछ में आपस में दो भाषाओं जैसे अंग्रेज़ी और डच जितना अन्तर है। चीनी के कुछ अन्य रूपान्तर मिन, के, वेन-लि आदि भी हैं। लगभग 9वीं सदी से चीन के प्रत्येक भाग में दो प्रकार की भाषा का प्रयोग मिलता है। एक भाषा तो दैनिक बोलचाल की है, जैसा कि सामान्य रूप से होता है, उच्चारण, शब्द-समूह तथा कभी-कभी व्याकरण के नियमों की दृष्टि से भी भाषा दस या पन्द्रह मील पर बदलती हैं। इसके अतिरिक्त एक साहित्यिक रूप है या वैनियेन जो व्याकरण, शब्द प्रयोग आदि की दृष्टि से समग्र चीन में लगभग एक है पर उच्चारण इसका भी चीन के विभिन्न भागों में अलग-अलग प्रकार से होता है। चीन की यह साहित्यिक भाषा चीनी साहित्य को प्राचीन निधियों की भाषा पर आधारित रही है। भाषा के ये दो रूप सन् 1917 तक मिलते है। उसके बाद मंदारिन के परिनिष्ठित रूप कुमोयू में ही साहित्य-रचना होने लगी है।

चीनी भाषा का साहित्य अत्यधिक सम्पन्न तथा प्राचीन हैं एक मत के अनुसार वह 3000 ई. पू. तक जाता है। 1000 ई. पू. से लगभग नियमित साहित्य रचना होती रही है। तीसरी सदी ई. पू. से ही बहुत अच्छा गद्य साहित्य चीनी में प्राप्त होता है। चीनी भाषा अपने कन्फ्यूसियस साहित्य, प्राचीन इतिहास ग्रंथ जिन्हे शूविंग कहते हैं तथा दर्शन-साहित्य के लिए विख्यात है। प्राचीन काल में यहाँ का साहित्य भारत तथा ईरान से तथा आधुनिक काल में यूरोप से प्रभावित हुआ है। यहाँ के विख्यात लेखकों में कन्फ्यूसिअस (551-479 इ.पू.) चू-हिस, वांगपो, नी-पी-चुइ, हसन विचि, लाउ शा आदि प्रमुख हैं। भारत के बहुत से बौद्ध ग्रंथ जो अब भारत कें उपलब्ध नहीं हैं। चीनी में अनूदितरूप में उपलब्ध हैं। हिन्दी में चीनी से आने वाले शब्दों में चाय, चीनी, लीची आदि मुख्य हैं।

चीनी लिपि विश्व की प्राचीनतम लिपियों में से है। यह चित्रलिपि का ही रूपान्तर है और इसमें अक्षरों के स्थान पर चित्रों के द्वारा लिखा जाता है। इसमें मानवर जाति के मस्तिष्क के विकास की विचित्र कहानी मिलती है। मानव ने किस प्रकार मछली, वृक्ष, चन्द्र, सूर्य आदि वस्तुओं को देखकर उनके आधार पर अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए एक चित्रलिपि खोज निकाली। ईसवी सन् के 1700 वर्ष पूर्व से लगाकर आज तक उपयोग में आने वाले चीनी शब्दों की आकृतियों में जो क्रमिक विकास हुआ है उसका अध्ययन इस दृष्टि से पर्याप्त रोचक है।

हुनान प्रान्त में अनयांग की खुदाई के समय कछुओं की अस्थियों पर शांगकालीन (1766-1122 ई.पू.) जो लेख मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि आज से लगभग 3000 वर्ष पूर्व चीन के लोग लिखने की कला से परिचित थे। इस प्रान्त के निवासियों का विश्वास था कि अस्थियों में जादू है। इन्हें आग पर तपाने से इन पर दो दरारें पड़ जाती थीं। उन्हें देखकर पंडित लोग भविष्य का बखान करते थे। कछुओं की अस्थियों के अलावा पशुओं की टाँगों और कन्धों की हड्डियों पर भी लेख लिखे जाते थे। 'चू' राजवंशों के काल में (1122-221 ई.पू.) चीन निवासी काँसे के बर्तनों पर लिखने लगे थे। इस काल में चीनी भाषा में बहुत से नए वर्णों का समावेश किया गया।

अब बाँस या लकड़ी की नुकीली कलम की जगह बालों के बने ब्रुश से लोग लिखने लगे थे। क्रमशः उत्तर में चीन की बड़ी दीवार से लेकर दक्षिण की ओर ह्वाई नदी की घाटी तक चीनी लिपि का प्रचार बढ़ा। इसके बाद 'छिन्' राज्यकाल (221-206 ई.पू.) में सम्राट शिह ह्वांग ने चीनी लिपि को एक रूप देने के लिए चीन भर में छिन लिपि का प्रचार किया। लेकिन इस लिपि के जटिल होने के कारण सरकारी फर्मानों के लिखने-पढ़ने में बहुत परेशानी होती थी, इसलिए इस समय 'लि' लिपि का प्रचार किया गया जिसमें मुड़ी हुई रेखाओं और गोलाकार कोणों के स्थान पर कोण की सीधी रेखाएँ बनाई जाने लगीं। इस समय काँसे की जगह बाँस की पट्टियों पर लिखने लगे। इस प्रकार चीनी-लिपि को सुव्यवस्थित और एक रूप बनाने के लिए चीन के लोग निरन्तर परिश्रम करते रहे। 'हान' राजवंशों (206 ई.पू. से 221 ई.) और छिन राजवंशों के काल (264-420 ई.) में घसीट और शीघ्रलिपि शैली का प्रचार बढ़ा। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में लेखक बांग शिह-छि ने सुन्दर अक्षरों वाली एक आदर्श शैली को जन्म दिया जिससे अधिक व्यवस्थित, सुडौल और चौकोर अक्षर लिखे जाने लगे। आज भी लिखने की यही शैली चीन में प्रचलित है।

स्यामी भाषा – इस भाषा का एक नाम थाई या तई है। इनके बोलने वालों को 'तई' या 'शान' कहा जाता है। थाई भाषा थाईलैण्ड, उत्तरी मलेशिया, कम्बोडिया, दक्षिणी म्यानमान और लाओस में बोली जाती है। इसकी वर्णमाला खमेर वर्णमाला से उत्पन्न है जा स्वयं इंडिक परिवार की ब्राह्मी लिपि पर आधारित है। भारत में असीम के पूर्वी भाग और ब्रह्मा के कुछ भागों में इस भाषा का क्षेत्र है। 12वीं सदी के लगभग ये लोग भारत में आकर असम में बसे और लगभग आगये। असम नाम भी सम्भवतः इन्हीं लोगों के कारण पड़ा। असम के पुरोहित अब भी अपनी प्राचीन बोली अहोम बोलते हैं। खाम्ती या खम्ती बोली असम और ब्रह्मा के संधिस्थल पर बोली जाती है। स्वामी भाषा के अब कुछ उपसर्ग आदि भी प्रयुक्त होने लगे हैं। यह शायद भारत का ही प्रभाव है।

तिब्बती भाषा – तिब्बती या भोट भाषा में एकाक्षरता चीनी को तुलना

में कम है। एकाक्षर परिवार की भाषाओं में इस पर भारत का प्रभाव सबसे अधिक है। छठी सदी से यहाँ संस्कृत और पालि ग्रंथों के अनुवाद शुरू हो गये थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को वहाँ ऐसी अनेक ग्रंथ मिले हैं, जिनका मूल-संस्कृत रूप कहीं भी उपलब्ध नहीं है। ऐसे कुछ ग्रंथों के उन्होंने संस्कृत में अनुवाद भी किये हैं। तिब्बती लिपि ब्राह्मी लिपि की ही पुत्री है और इसका व्याकरण भी संस्कृत से बहुत प्रभावित हैं उसे स्थिर स्वरूप भी किसी भारतीय पण्डित ने ही दिया था। तिब्बती साहितय बहुत सम्पन्न है। इसके अन्तर्गत कुछ हिमालय की ऐसी बोलियाँ हैं जो मूल रूप से इसकी बेटी होने पर भी अब दूर पड़ गई हैं। पड़ोस का मुंडा बोलियों का भी इन पर प्रभाव पड़ा है और उनके प्रायः सभी लक्षण इनमें आ गये हैं। इन हिमालयी बोलियों के असार्वनामिक तथा सार्वनामिक दो वर्ग किये जा सकते हैं। सार्वनामिक वर्ग में कर्ता और कर्म यदि सर्वनाम हों तो उन्हें क्रिया में ही प्रत्यय की भाँति जोड़ देते हैं–हिप्=मारना। तू=उसे। ङ= मैं। हिप्तुङम =मैं उसे मारता हूँ।

सार्वनामिक के किराँत तथा कनीरदामी दो उपवर्ग हैं। पहले को पूर्वी और दूसरे को पश्चिमी भी कहते हैं। इन दोनों के अन्तर्गत छोटी-छोटी अनेक बोलियाँ हैं। नेपाल के पूरब में इनका प्रदेश पड़त है। असार्वनामिक भाषाओं में इस प्रकार का सर्वनाम संयोग नहीं होता। यह वर्ग नेपाल, सिक्किम, भूटान आदि में विस्तृत है। नेपाल की प्रधान बोली नेवारी इसी वर्ग की है, जिसमें साहित्य भी है। भारतीय संस्कृति तथा मैथिली साहित्य का नेवारी पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। 'बर्मी-असमी' वर्ग बर्म और असम में फैला है, किन्तु इसकी 'लोलो' आदि कुछ बोलियाँ अवश्य चीन में पड़ती है। इन पर भी भारतीय संस्कृति तथा साहित्य का प्रभाव कम नहीं है और इसी कारण यह भी शुद्ध एकाक्षरी नहीं रह गयी ह। मणिपुर की भाषा मेइतेइ या मेईथेइ में प्राचीन साहित्य बहुत है। इस भाषा में इतिहास ग्रंथ लिखने की प्रथा 15वीं सदी से चली आ रही है। इसमें शुद्ध क्रिया का प्रायः अभाव माना जाता है। लोग क्रियार्थक संज्ञा आदि से काम चलाते हैं।

बर्मी भाषा – यह स्वतन्त्र देश म्यांमार (बर्मा) की राजभाषा है। यह प्रधान रूप से ब्रह्मदेश (बर्मा का संस्कृत नाम) में बोली जाती है। म्यांमार की

सीमा से सटे भारत के राज्यों असम, मणिपुर तथा अण्डमान एवं निकोबार द्वीपसमूह में भी कुछ इस भाषा का प्रयोग करते हैं । बर्मी भाषा में चीनी भाषा के समान कुछ शब्द अयोगात्मक भी होते हैं तथा आर्यभाषाओं के समान कुछ शब्द योगात्मक भी होते हैं । वर्तमान बर्मी लिपि में पालि भाषा के प्रभाव से 33 व्यंजन और 12 स्वर माने जाते हैं । वास्तव में बर्मी बोली में वर्ग के चतुर्थ अक्षर तथा सम्पूर्ण दंत्य वर्ग नहीं होता । इसलिए प्रायः बर्मी में वर्ग के तृतीय तथा चतुर्थ अक्षरों का समान उच्चारण तथा मूर्द्धन्य एवं दंत्य वर्गों के अक्षरों का भी समान रूप से उच्चारण होता है । वैदिक संस्कृत एवं पालि में प्रयुक्त 'क' का बर्मी साहित्य में प्रयोग किए जाने पर भी वह बोली भी नहीं होता । बर्मी भाषा में जी 64 स्वर होते हैं जिन्हें 64 'कारांत' भी कहते हैं । इन स्वरों के बल पर ही संसार की भाषाओं का उच्चारण बर्मी भाषा में लिखा जा सकता है । साहित्य की दृष्टि से बर्मी भाषा सम्पन्न है ।

6. आर्य परिवार की भाषाएँ

1. आर्य परिवार की भाषा से क्या तात्पर्य है? प्राचीन भारतीय आर्यभाषा वैदिक संस्कृत का परिचय दीजिए।

अथवा

वैदिक संस्कृत की ध्वनियों तथा रूप संरचना पर प्रकाश डालिये।

उत्तर – भारत-ईरानी शाखा के कुछ आर्य भारत आये और उनके कारण भारत में भारतीय आर्यभाषा बोली जाने लगी। विद्वानों का विचार है कि ये आर्य भारत में कई दलों में आये। भाषा वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर ग्रियर्सन आदि का कहना है कि कम से कम दो बार तो आर्य अवश्य आये। सभी विद्वान् इस बात से सहमत नहीं हैं। आर्यों के आने के काल के सम्बन्ध में भी विवाद है। अधिकांश लोग यह जानते हैं कि मोटे रूप से यह माना जा सकता है कि 1500 ई. पू. के लगभग आर्य जा चुके थे। इसका आशय यह हुआ कि भारतीय आर्यभाषा का इतिहास 1500 ई.पू. से 20 वीं सदी तक फैला हुआ है इस 3500 वर्षों के काल को भी वर्गों में बांटा जा सकता है।

(1) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल (1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक)

(2) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा काल (500 ई.पू. से 1000 ई. तक)

(3) आधुनिक भारतीय आर्यभाषा काल (1000 ई. से 20वीं सदी तक)

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के अन्तर्गत भाषा के दो रूप मिलते हैं–वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत। प्राचीन आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद से प्राप्त होता है। सामान्यतः प्राचीन आर्यभाषा का काल 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है, परन्तु भारतीय और पाश्चात्य विद्वान् ऋग्वेद का समय 2500 ई. पू. से बंद का नहीं मानते। अतः काल विभाजन में प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का आरम्भ 2500 ई. पू. से माना जाता है।

वैदिक संस्कृत के अन्य नाम संस्कृत, वैदिकी, छान्दस् या प्राचीन संस्कृत आदि भी हैं। वैदिक संस्कृत का प्राचीनतम रूप ऋग्वेद संहिता में मिलता है। चारों वेद, ब्राह्मण और प्राचीन उपनिषदों की भाषा वैदिक संस्कृत

ही है । इन ग्रंथों में भाषा का एक रूप नहीं है । ऋग्वेद के 2 से 9 मण्डलों को अधिक प्राचीन तथा 1 तथा 10 मण्डलों को अपेक्षाकृत परवर्ती माना है । यही प्राचीन भाषा अवेस्ता के अधिक निकट है । प्रथम और दसवें की भाषा बाद की है । अन्य संहिताओं (युजु, साम, अथर्व) ब्राह्मणों और उपनिषदों में कुछ अपवादों को छोड़कर भाषा का क्रम से विकसित होता रूप दृष्टिगत होता है । प्रो. आत्वाँ मेय्ये तथा कुछ और लोगों का विचार है कि वैदिक संस्कृत का पुराना रूप तक का है जब आर्य पंजाब के आसपास ही आये थे, बाद की वैदिक रचनाओं की विकसित भाषा तब की है जब वे मध्यप्रदेश की ओर आगे बढ़े और सभी दृष्टियों से भारत के अपेक्षाकृत प्राचीन निवासियों का उन पर प्रभाव पड़ चुका था । वैदिक संस्कृत का एक तीसरा रूप भी है, जो कदाचित् उस समय का है जब आर्य मध्यदेश से भी पूर्व पहुँच गये । यह काल 800 ई.पू. के लगभग माना जा सकता है । वैदिक संस्कृत के जो रूप आज उपलब्ध हैं, उन्हें उस काल की बोलचाल का रूप नहीं माना जा सकता तत्कालीन बोलचाल की भाषा के वे साहित्यिक रूप मात्र हैं ।

वैदिक संस्कृत की ध्वनियाँ – वैदिक संस्कृत की प्रमुख ध्वनियाँ निम्नलिखित हैं–

	स्वरूप	**स्थान**	**ध्वनियाँ**	**योग**
(1)	मूल स्वर	–	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ	9
(2)	संयुक्त स्वर	–	ए ओ ऐ औ	4
(3)	स्पर्श	कवर्ग (कंठ्य)	क ख ग घ ङ	
		चवर्ग (तालव्य)	च छ ज झ ञ	
		टवर्ग (मूर्धन्य)	ट ठ ड ळ् ढ ळ्ह ण	
		तवर्ग (दन्त्य)	त थ द ध न	
		पवर्ग (ओष्ठ्य)	प फ ब भ म	27
(4)	अन्तस्थ	–	य र ल व	4
(5)	ऊष्म	संघर्षी	श ष स ह विसर्ग (:)	
			जिह्वामूलीय, उपध्मानीय	7
(6)	अनुनासिक		अनुस्वार (ं)	1
				52

वैदिक संस्कृत की रूप संरचना – वैदिक संस्कृत की रूप संरचना सम्बन्धी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) वैदिक भाषा की पद रचना श्लिष्ट योगात्मक थी ।

(2) पद रचना में विविधता और अनेकरूपता थी । यह विविधता लौकिक संस्कृत में अत्यन्त कम हो गई । अपवाद नियम भी कम हो गये हैं ।

(3) धातु रूप में लोट् लकार का प्रयोग होता था जो कि लौकिक संस्कृत में नहीं रहा ।

(4) धातु रूपों में ये विशेषताएँ भी थीं– (क) विकरण-व्यत्यय, शप् आदि के स्थान पर दूसरे गण का विकरण हो जाता था, (ख) पद-व्यत्यय, परस्मैपद, आत्मनेपद में परिवर्तन (ग) लङ् आदि में अट् (अ) का अभाव, (घ) मः >मसि, (ङ) द्वित्व का अभावा, ददाति के स्थान पर दाति, (च) अन्तिम स्वर को दीर्घ चक > चक्रा विद्म > विद्या ।

(5) कृत् प्रत्ययों में तुम् अर्थ में से, असे, अध्यै आदि 15 प्रत्यय थे । संस्कृत में 'तुम' ही शेष रहा है ।

(6) वेद में संगीतात्मक स्वर की मुख्यता थी । संस्कृत में बलाघातात्मक स्वर हो गया ।

(7) वेद में उपसर्ग धातु से पृथक् भी प्रयुक्त होते थे, संस्कृत में नहीं । जैसे– अभिगृणीहि का अभि.. गृणीहि । 'अभि यज्ञं गृणीहि नः ।' ऋ.1.15.3

(8) वैदिक संस्कृत में लौकिक संस्कृत के समान तीन लिंग और तीन वचन थे, पर लिंग और वचन में परिवर्तन भी हो जाता था । मधुनः को मधोः, मित्राः को मित्रः आदि ।

(9) वैदिक संस्कृत में ह्रस्व तथा दीर्घ के साथ प्लुत का भी प्रयोग प्रचलित था । रायो 3 वनिः । वर्ष्या 3 अह । आध्यो 3 वृ को 0 ।

(10) दो स्वरों के मध्य में उ > व्ठ और ढ > व्ह् हो जाता था । ईडे > ईव्ठे, मीदुषे > मीव्ठ, हुये, संस्कृत में ये दोनों ध्वनियाँ नहीं हैं । हिन्दी में व्ठ, व्ह् के विकसित रूप ड़ ढ़ है ।

(11) वैदिक संस्कृत में 'ऌ' स्वर का प्रयोग प्रचलित था ।

(12) सन्धि नियमों में पर्याप्त शिथिलता थी । प्रगृह्य वाले स्थल पर भी सन्धि मिलती है । रोदसी + इमे रोदसीमे । पूर्वरूप आदि सन्धियों का अभाव भी मिलता है । उपप्रयन्तो अध्वरम् नो अव्यात शतधारो अयम् ।

(13) वैदिक संस्कृत में मध्य स्वरागम या स्वरभक्ति के अनेक उदाहरण मिलते हैं । जैसे–पृथ्वी > पृथिवी, स्वर्ण > सुवर्ण, स्वर > सुवर्, दर्शत > दरशत्

लौकिक संस्कृत में शब्द रूपों, धातु रूपों एवं प्रत्ययों की विविधता कम हो गई और काल, पुरुष, वचन, लिंग आदि के ऐच्छिक परिवर्तन प्रायः समाप्त हो गये ।

2. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा लौकिक संस्कृत या संस्कृत की ध्वनियों, रूप-संरचना का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

अथवा

संस्कृत भाषा के विकास का वर्णन करते हुए वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में अन्तर बताइए ।

उत्तर – लौकिक संस्कृत के अन्य नाम संस्कृत क्लैसिकल संस्कृत तथा देवभाषा भी है । वैदिक संस्कृत में भाषा के तीन स्वर मिलते हैं–उत्तरी, मध्यदेशीय तथा पूर्वी लौकिक संस्कृत का आधार उत्तरी रूप (बोलचाल को) ही माना जाता है । साहित्य में प्रयुक्त भाषा के रूप में इसका आरम्भ 8वीं सदी ई.पू. से होता है । साहित्यिक या क्लैसिकल संस्कृत की आधार भाषा का बोलचाल में प्रयोग लगभग 5वीं सदी ई. पू. या कुछ क्षेत्रों में उसके बाद तक होता रहा, किन्तु तब तक उत्तरी भारत के आर्यभाषा-भाषियों में कई भौगोलिक बोलियाँ जन्म ले चुकी थीं, जो आगे चलकर विभिन्न प्राकृतों, अपभ्रंशों एवं आधुनिक आर्यभाषाओं के जन्म का कारण बनीं । पाणिनि ने 5वीं सदी ई.पू. के आसपास ही इस भाषा को व्याकरणबद्ध किया ।

बोलचाल की भाषा साहित्यिक भाषा के विरुद्ध परम्परागत कम और विकासोन्मुख अधिक होती है संस्कृत के बोलचाल की भाषा के बहुत से प्रमाण

पाणिनि के सूत्रों में है ।

संस्कृत के सबसे प्राचीन एवं आदि काव्य वाल्मीकि रामायण 500 ई. पू. का है । महाभारत, पुराण, काव्य, नाटक, आदि ग्रंथ 500 ई.पू. से आज तक अविच्छिन रूप से अपना गौरव स्थापित किये हुए हैं । यास्क, कात्यायन, पतंजलि आदि के लेखों से सिद्ध है कि ईसा पूर्व तक संस्कृत लोक व्यवहार की भाषा थी ।

संस्कृत साहित्य आर्य-जाति का प्राण है । संस्कृत में ही समस्त प्राचीन ज्ञान, विज्ञान, कला, पुराण, काव्य, नाटक आदि हैं । संस्कृत ने न केवल भारतीय भाषाओं को अनुप्राणित किया है, अपितु विश्व–भाषाओं, मुख्यतया भारोपीय भाषाओं को भी प्रभावित किया है ।

संस्कृत भाषा की ध्वनियाँ

संस्कृत में 48 ध्वनियाँ प्राप्त होती हैं, जो इस प्रकार है–

मूल स्वर	–	अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ओ	11
संयुक्त स्वर	–	ऐ (अइ), औ (अउ)	2
व्यंजन स्पर्श	कवर्ग (कंठ्य)	क् ख् ग् घ् ङ्	
	चवर्ग (तालव्य)	च् छ् ज् झ् ञ्	
	टवर्ग (मूर्धन्य)	ट् ठ् ड् ढ् ण्	
	तवर्ग (दन्त्य)	त् थ् द् ध् न्	
	पवर्ग (ओष्ठ्य)	प् फ् ब् भ् म्	25
अन्तस्थ	–	य् र् ल् व्	4
अघोष संघर्षी		श् ष् स्	3
घोष ऊष्म		ह्	1
अघोष ऊष्म		(विसर्ग)	1
शुद्ध अनुनासिक		(अनुस्वार)	1
			48

वैदिक संस्कृत में 52 ध्वनियाँ थीं । संस्कृत में 48 ध्वनियां रह गई हैं । वैदिक संस्कृत की 4 ध्वनियाँ लुप्त हो गई–ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ।

संस्कृत भाषा की रूप-रचना – वैदिक संस्कृत का ही विकसित रूप लौकिक संस्कृत है। वैदिक संस्कृत में जो विविधता और अनेकरूपता पाई जाती थी, वह संस्कृत में न्यून हो गई। पाणिनि के व्याकरण का प्रभाव बहुत बढ़ गया। फलस्वरूप पाणिनि व्याकरण से असिद्ध रूपों का प्रचलन कम हो गया। शब्द रूपादि में संक्षेप और परिष्कार आ गया। अपवाद नियमों की संख्या कम हो गई। कुछ विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

(1) शब्द रूपों और धातु रूपों में वैकल्पिक रूपों की न्यूनता हो गई।

(2) सन्धि-नियमों की अनिवार्यता हो गई।

(3) लोट् लकार का अभाव हो गया।

(4) भाषा में स्वरों का प्रयोग समाप्त हो गया।

(5) कृत प्रत्ययों आदि में अनेक प्रत्ययों के स्थान पर एक प्रत्यय होने लगे, तुमधक 15 प्रत्ययों के स्थान पर केवल 'तुम' प्रत्यय है।

(6) शब्द कोष में पर्याप्त अन्तर हो गया। प्राचीन ईम्, सीम् जैसे निपात लुप्त हो गये। वेदों में अत्यन्त प्रचलित अवस्यु, विचर्षणि, वीति, ऋक्वन्, उक्थ्य जैसे शबद समाप्त हो गये। इसी प्रकार के अन्य शब्द हैं–दर्शत (दर्शनीय), दृशीक (सुन्दर), मूर (मूढ़), अमूर (विद्वान्) अक्तु (रात्रि), अमीवा (रोग), रपस् (चोट), ऋदूदर (कृपालु)।

(7) वैदिक शब्दों के अर्थ में भी अन्तर हो गया। जैसे –पत्–(वैदिक संस्कृत उड़ना, सं, गिरना) सह्–(वै-जीतना, सं. सहना) न (वै. नहीं, तुल्य, सं नहीं), असुर (वै शक्तिशाली, सं दैत्य), अराति (वै. कृपण, सं शत्रु) वध (वै. घातक शास्त्र, सं. हत्या), क्षिति (वै. गृहं, सं. पृथ्वी)।

(8) स्वरों में लृ का प्रयोग समाप्त प्राय हो गया। व्यंजनों में व्ठ् व्ठ्ह नहीं रहे। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग समाप्त हो गया।

(9) संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलात्मक स्वरों का प्रयोग होने लगा।

(10) उपसर्गों का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं रहा।

वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में भेद

वैदिक संस्कृत तथा लौकिक संस्कृत में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं–

(1) वैदिक संस्कृत में स्वराघात की प्रधानता थी जबकि लौकिक संस्कृत में बलात्मक स्वराघात की ।

(2) वैदिक स्वरों में उदात्तादि गुण थे जबकि संस्कृत के स्वरों में ये गुण नहीं थे ।

(3) वैदिक स्वरों का ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उच्चारण होना था पर लौकिक संस्कृत में प्लुत उच्चारण समाप्त हो गया ।

(4) वैदिक संस्कृत में 'ऌ' स्वर का प्रयोग प्रचुर मात्र में होता था पर लौकिक में इसका लोप हो गया ।

(5) वैदिक संस्कृत में आत्मनेपद और परस्मैपद का कोई विशेष नियम नहीं था परन्तु लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग नियमानुसार होता था ।

(6) वैदिक संस्कृत में सन्धि के नियमों का पालन अनिवार्य नहीं था और इसमें अनेक अपवाद उपलब्ध थे । लौकिक संस्कृत में सन्धि के नियमों का पालन अनिवार्य था और इसमें अपवाद नहीं मिलते ।

(7) वैदिक संस्कृत में स्वरभक्ति का प्रयोग होता था, जबकि लौकिक संस्कृत में स्वरभक्ति का प्रयोग नहीं होता ।

(8) वैदिक संस्कृत में लङ्, लुङ्, लिट् लकार का प्रयोग किसी भी काल में हो सकता था परन्तु लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग केवल भूतकाल में ही होता है ।

(9) वैदिक संस्कृत में लेट् लकार सहित 11 लकार थे जबकि लौकिक संस्कृत में इसका लोप हो गया और लकारों की संख्या 10 रह गई ।

(10) वैदिक संस्कृत में उपसर्गों का प्रयोग धातु से पृथक् स्वतन्त्र रूप से हो सकता था पर लौकिक संस्कृत में इनका स्वतन्त्र प्रयोग समाप्त हो गया । इसमें उपसर्ग धातु के साथ प्रयोग होने लगे ।

(11) वैदिक संस्कृत में एक ही अर्थ में प्रत्यय के विविध रूप मिलते हैं, जबकि लौकिक संस्कृत में ये रूप समाप्त हो गए ।

(12) वैदिक संस्कृत में श्रेष्ठतावाचक प्रत्ययों का प्रयोग संज्ञाओं के साथ मिलता है जबकि लौकिक संस्कृत में इनका प्रयोग विशेषणों के साथ मिलता है ।

3. भारत की मध्यकालीन आर्यभाषाओं का परिचय दीजिए ।

अथवा

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा पालि और प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए ।

उत्तर – मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के तीन भागों में बाँटा जा सकता है–

(1) प्राचीन प्राकृत या पालि (500 ई.पू. से 100 ई. तक) ।

(2) मध्यकालीन प्राकृत (100 ई. से 500 ई. तक) ।

(3) परकालीन प्राकृत या अपभ्रंश (500 ई. से 1000 ई तक)

पाणिनि ने भाषा का संस्कार करके उसे बाँध दिया और क्लासिकल संस्कृत या लौकिक संसकृत का एक रूप निश्चित हो गया, किन्तु लोकभाषा अबाध गति से विकसित होती रही । इस विकास के फलस्वरूप भाषा का जो स्वरूप सामने आया उसे 'प्राकृत' कहते हैं । मोटे रूप से इसका काल 500 ई. पू. से 1000 ई. तक अर्थात् 1500 वर्षों तक का माना जाता है । 'प्राकृत' के हेमचन्द्र, मार्कण्डेय, वासुदेव आदि व्याकरणों ने 'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भव प्राकृतमुच्यते' आदि रूप में प्राकृत की संस्कृत से निकली माना है, किन्तु ऐसा असम्भव है । मूलतः संस्कृत के काल में जो बोलचाल की भाषा थी,वही विकसित होती रही और उसी का विकसित रूप प्राकृत हुआ ।

प्राचीन प्राकृत या पालि भाषा

मध्यकालीन आर्यभाषा के प्रथम युग की महत्त्वपूर्ण भाषा 'पालि' है । उसे 'देशभाषा' भी कहा गया है । इसका काल कुछ लोग 5वीं या 6वीं सदी ई. पू. से पहली ईसवी तक और कुछ लोग दूसरी सदी ई. पू. तक मानते हैं ।

'पालि' शब्द का व्युत्पत्ति के विषय में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं । प्रमुख मत ये हैं–

(1) आचार्य बुद्धघोष (चतुर्थी शती ई.) और आचार्य धम्मपाल (छठी शती ई.) ने 'पालि' शब्द का प्रयोग बुद्धवचन या मूल त्रिपिटक के लिए किया है । उससे यह शब्द 'पालि' भाषा के लिये आया ।

(2) आचार्य विधुशेकर भट्टाचार्य ने 'पंक्ति' से पालि की उत्पत्ति इस प्रकार बताई– पंक्ति > पंति > पत्ति > पल्लि > पालि ।

(3) भिक्षु सिद्धार्थ ने 'पाठ' से पालि की उत्पत्ति मानी है । पाठ > पाळ > पाळि > पालि ।

(4) भिक्षु जगदीश काश्यप ने परियाय (=बुद्धोपदेश) शब्द से पालि की उत्पत्ति मानी है । परियाय पलियाय > पालियाय > पालि ।

(5) डॉ. मैक्स वेलेसन (जर्मन विद्वान्) ने पाटलि (पाटलिपुत्र) स पालि की उत्पत्ति मानी है । पाटलि > पाडलि > पालि ।

(6) पल्लि (गाँव) शब्द से पालि । पाल्लि > पालि ।

(7) प्राकृत शब्द से पालि । प्राकृत > पाकट > पाउड > पाअल > पालि ।

(8) अभिधानपादीपिक (पालिभाषा-कोशग्रन्थ) ने पा धातु से पालि शब्द माना है । पा–पालेति रक्खतीति पालि । जो रक्षा करती है या पालन करती है ।

(9) अमरकोश के टीकाकार भानुजी दीक्षित ने 'पाल रक्षणे' से पालि श्ब्द माना है । पाल् + इ = पालि ।

उक्त मतों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि इनमें से कुछ केवल बौद्धिक व्यायाम हैं । जैसे–पंक्ति, पाठ, प्राकृत, पाटलि आदि । आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धम्मपाल के उल्लेखों से सिद्ध है कि बुद्ध वचन या बुद्धोपदेश के लिए पालि शब्द चतुर्थ शती ई. में प्रचलित था । पाल्लि शब्द से 'पालि' सरलता से बन सकता है । परन्तु इसका पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है । भिक्षु जगदीश काश्यप का मत अधिक लोकप्रिय है । परिचाय (सं. पर्याय) का बुद्धोपदेश

अर्थ में भब्रु शिलालेख में प्रयोग है । धम्मपलियायानि । परियाय > पालि शब्द बुद्धवचन का मूल त्रिपिटक के लिए प्रयुक्त होने लगा ।

पालि की ध्वनियाँ–

स्वर	अ आ इ ई उ ऊ	ह्रस्व ए ऐ, ओ औ	
व्यंजन	क् ख् ग् घ् ङ्	कंठ्य	
	च् छ् ज् झ् ञ्	तालव्य	
	ट् ठ् ड् ढ् ण्	मूर्धन्य	
	त् थ् द् ध् न्	दन्त्य	
	प् फ् ब् भ् म्	ओष्ठ्य	
	य् र् ल् व्	अन्तस्थ	
	स्	ऊष्म	
	ह्	प्राणध्वनि	
	अनुस्वार (इसे पालि में निग्गहीत कहते हैं)		32
			42

पालि भाषा की विशेषताएँ – पालि भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) पालि में वैदिक संस्कृत में 5 स्वर ध्वनियाँ लुप्त हो गईं–ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ ।

(2) पालि में वैदिक संस्कृत के 5 व्यंजन लुप्त हो गये – श, ष, विसर्ग (:), जिह्वामूलीय, उपध्मानीय ।

(3) पालि में दो नये स्वर आ गये– ह्रस्व ऍ, ह्रस्व ओ ।

(4) पालि में वैदिक संस्कृत के दो व्यंजन व्ठ्, व्ठ्ह भी मिलते हैं ।

(5) पालि में संयुक्त वर्ण से पूर्ववर्ती दीर्घ को ह्रस्व हो जाता है, यदि दीर्घ स्वर रहेगा तो संयुक्त व्यंजन में से एक का लोप हो जायेगा । जीर्ण > जिण्ण, दीर्घ > दीघ ।

(7) अघोष वर्ण घोष हो जाता है क् ग प्रतिकृत्य > पटिगच्च, च् > ज्–सुच् > सुजा । त् द् –वितरित > विदत्थि ।

(8) ड ढ को व्ठ, व्ठ्ळ । बडवा > बव्ठवा ।

(9) सन्धियों में केवल तीन सन्धियाँ हैं—स्वर संधि, व्यंजन संधि और निग्गहीत (अनुस्वार) संधि । विसर्ग संधि आदि नहीं है ।

(10) पालि में हलन्त शब्द नहीं हैं । केवल अजन्त ही हैं । हलन्त शब्दों को अकारान्त बना देते हैं । या अन्तिम व्यंजन का लोक कर देते हैं । धनवत् > धनवन्त, आत्मन् > अन्त ।

(11) पालि में द्विवचन नहीं होता ।

(12) पालि में तीनों लिंग हैं ।

(13) शब्द रूपों में चतुर्थी और षष्ठी के रूप समान होते हैं ।

(14) स्त्री प्रत्यय सात हैं—आ, ई, इनी, नी, आनी, ऊ, ति, अजा, कुमारी, यक्खिनी, दण्डिनी, मातुलानी, वामोए, युवति ।

(15) पालि में 500 से अधिक धातुएँ हैं । 9 गण हैं । अक्षादि और जुहोत्यादि नहीं है । क्रयादि के दो भेद हैं ।—ना, णा वाले ।

(16) पालि में लोट लकार रूप में मिलते हैं—हनासि, दहासि ।

(17) पालि में णिच् सन्, यङ् नामधातु प्रत्यय वाले रूप मिलते हैं ।

(18) पालि में वैदिक संस्कृत के तुल्य तुम् अर्थ वाले अनेक प्रत्यय मिलते हैं—तुम्, तवे, तये, जि > जिनतुम् हा > पहातवे, गण् गणेतुये ।

(19) आत्मनेपद का प्रयोग प्रायः लुप्त हो गया । परस्मैपदी शेष रहा ।

(20) पालि में टर्नर आदि के अनुसार दोनों प्रकार का स्वराघात था—संगीतात्मक और बलाघातपरक ।

(21) पालि में तद्भव शब्दों का आधिकय है । तत्सम और देशज शब्द कम हैं ।

प्राकृत भाषा

मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का दूसरा युग प्राकृतों का है । मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के प्रथम युग के शिलालेखों की भाषा को भी प्राकृत कहा गया है ।

'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति कई प्रकार से दी गई हैं। जैसा कि पिशेल ने दिया है, कुछ वैयाकरण इसका विश्लेषण 'प्राक + कृत' अर्थात् पहले बनी हुई करते हैं और इस रूप में इसे संस्कृत से पहले की मानते हैं। नमि साधु सामान्य लोगों में व्याकरण के नियमों आदि से रहित सहज वचन व्यापार को प्राकृत का आधार मानते हैं–'सकलजगज्जन्तूनां' व्याकरणादिभिनाहित–संस्कारः सहजो वचन-व्यापारः प्रकृतिः तत्र भवं सैव या प्राकृतम्। ऐसा अनुमान लगता है कि एक भाषा का संस्कार करके उसके रूप को 'संस्कृत' नाम दिया तो वह भाषा जो असंस्कृत थी और पण्डितों में प्रचलित भाषा के विपरीत जो 'प्रकृत' या सामान्य लोगों में सहज रूप में बोली जाती थी, स्वभावतः 'प्राकृत' के नाम की अधिकारिणी बन बैठी।

प्राकृत की उत्पत्ति वेद और संस्कृत कालीन जनभाषा का विकसित रूप से है। पालि काल की समाप्ति के बाद लोक भाषा का यही रूप था। प्राकृतों में प्राचीनतम रूप शिलालेखी प्राकृतों का है। इसको ही अशोकन प्राकृत, लाट प्राकृत भी कहते हैं। शिलालेखी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) ध्वनियाँ पालि के समान हैं। पालि में केवल 'स' है, किन्तु शहबाजगढ़ी और मानसेरा शिलालेखों में श ष स तीनों मिलते हैं।

(2) कुछ शिलालेखों में ण् ञ् नहीं है। र् को ल् है।

(3) शिलालेखी प्राकृत में दीर्घीकरण, ह्रस्वीकरण, वर्णलोप, गुण परिवर्तन, व्यंजन परिवर्तन, सरलीकरण आदि मिलते हैं।

(4) हलन्त शब्द प्रायः अकारान्त हो गये हैं। कुछ प्राचीन हलन्त शब्द रूप शेष हैं। मातरि, पितरि, लाजिना, राजो आदि।

(5) क्रियारूप प्रायः पालि के तुल्य हैं। आत्मनेपद नहीं है, कर्मवाच्य, णिच, सन, तुम, त्वा, शतृ आदि प्रत्यय हं।

(6) तीन लिंग हैं, द्विवचन नहीं।

प्राकृत के भेद – इसकी 'साहित्यिक प्राकृत' भी कहते हैं। इस काल में प्राकृत का विकसित साहित्यिक रूप प्राप्त होता है। प्राकृत भाषाओं के विषय

में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में विचार किया है । उनके मतानुसार 7 मुख्य प्राकृत हैं और 7 गौण (विभाषा) । मुख्य प्राकृत हैं—मागधी, अवन्तिजा, प्रकाच्या, सूरसेनी (शौरसेनी), अर्धमागधी, बाहलीक, दाक्षिणात्य (महाराष्ट्री), गौण 7 प्राकृतों के नाम हैं—शाबरी, आभीरी, चाण्डाली, सचरी, द्राविड़ी, उद्रजा, वनेचरी ।

प्राकृत-व्याकरण के सबसे प्राचीन वैयाकरण वररुचि ने चार प्राकृत मानी हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, पैचाणी । मागधी के दो रूप हो गये हैं—मागधी और अर्धमागधी । इस प्रकार पाँच प्राकृत है । । मुख्य प्राकृतों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है—

1. शौरसेनी – इसका क्षेत्र शूरसेन (मथुरा के आसपास) का प्रदेश था । इसका विकास पालि-कालीन स्थानीय भाषा से हुआ । यह मध्यप्रदेश की भाषा थी । नाटकों में सर्वाधिक प्रयोग इसी का हुआ है । स्त्रियों आदि का वार्तालाप शौरसेनी प्राकृत में ही होता था । केवल पद्य के लिए महाराष्ट्री थी । शौरसेनी से ही वर्तमान हिन्दी का विकास हुआ है । राजशेखर कृत कर्पूरमंजरी का समस्त पद्य भाग शौरसेनी प्राकृत में है । भास, कालिदास आदि के नाटकों में गद्य शौरसेनी में ही है । इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलना है । यह निम्न एवं मध्यम कोटि के पात्रों तथा स्त्रियों की भाषा थी । इसमें सरलता, सरसता, श्रवण-सुखदाता अधिक थी, अतः अधिक लोकप्रिय हुई । शौरसेनी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) प्रथम एकवचन में कारक चिह्न ओ । पुत्रः > पुत्तो ।

(2) दो स्वरों के मध्यगत संस्कृत के त को द ओर थ को ध । पृच्छति > पुच्छति, शत > सद । अथ > अध । कथं > कधं ।

(3) मध्यगत क, व को क्रमशः ग द हाते हैं । नायकः > णाउम्र, अतिथि > अदिधि, कृत > किद । द प्रायः शेष रहता है । जलदः > जलदो ।

(4) मध्यगत महाप्राण ख, घ, ध, फ, भ को ह हो जाता है । मुख > मुह, मेघ > मेह, वधू > वहू, अभिनव > अभिणव ।

(5) न को ण हो जाता है । नाथ > णाध, भगिनी > बहिणी ।

(6) मध्यगत प को व होता है । दीप > दीव, अपि > अवि ।

(7) क्ष को क्ख, ध्य को झ, इक्षु > इक्खु, मध्य > मज्झ ।

(8) आत्मनेपद प्रायः समाप्त हो गया । परस्मैपद ही है ।

(9) लिट्, लङ्, लुङ्, विधिलिङ् प्रायः समाप्त हो गये ।

(10) द्विवचन का अभाव हो गया ।

2. महाराष्ट्री – महाराष्ट्री प्राकृत का मूल स्थान महाराष्ट्र है । इससे ही मराठी भाषा का विकास हुआ है । प्राकृतों में सबसे अधिक साहित्य महाराष्ट्री में है । संस्कृत नाटकों में प्राकृत में पद्य रचना महाराष्ट्री में ही है । महाराष्ट्री प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रंथ हैं–राजा हाल कृत 'गाहा सतसई' (गाथा सप्तशती) प्रवरसेन कृत 'रावण वही' (सेतुबन्धः) वाक्पति कृति 'गउडवहो' (गौडवधः) जयवल्लभ कृत 'वज्जालग्ग', हेमचन्द्राचार्य कृत 'कृमारपालचरित' ये सभी काव्य ग्रंथ हैं । कर्पूरमंजरी के पद्य महाराष्ट्री में है । भरतमुनि ने दाक्षिणात्य प्राकृत से महाराष्ट्री का ही निर्देश किया है । दण्डी ने काव्यदर्श में महाराष्ट्री को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत माना है ।

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टे प्राकृतं विदुः' –काव्यदर्श

अवन्ती और बाह्लीक प्राकृत महाराष्ट्री में ही अन्तर्भूत है ।

महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) स्वर-बाहुल्य मध्यगत व्यंजनों के लोप से स्वरों की प्रधानता अतएव संगीतात्मकता ।

(2) मध्यगत अल्पप्राण (क, ग, च, ज, त, द) का लोप । लोकः > लोओ, हृदय > हिअअ, प्राकृत > पाउअ, जानाति > जाणाइ ।

(3) मध्यगत य का सदा लोप होता है । प्रिय > पिअ, वियोग > विओअ ।

(4) मध्यगत महाप्राण स्पर्शी (ख, घ, थ, ध, फ, भ) को ह । अथ > अहं, कथं > कहे, मुख > मुह, लघुक > लहुअ, थ को ह महाराष्ट्री की प्रमुख विशेषता है । शौरसेनी में थ का ध होता है ।

(5) ऊष्म वर्णों (श, ष, स) को प्रायः ह हो जाता है। दश > दहं, धनुष > धणुह, पाषाण > पाहाण, दिवसं > दिअहं।

(6) क्ष का च्छ। कुक्षि > कुच्छि, इक्षु > उच्छु।

(7) कर्मवाच्य य को इज्ज। पृच्छयते > पुच्छिज्जइ।

(8) त्वा को ऊण। पृष्ट्वा > पुच्छिऊण।

(9) तुम करे उ और क्त (त) का अ। कर्तुम > काउं, गृहीत > गहिअ।

(10) अनीथ को अणिज्जय। करणीय > करणिज्ज।

3. मागधी – यह मगध की भाषा थी। इसका साहित्य बहुत कम मिलता है। इसका प्राचीनतम रूप अश्वघोष के नाटकों में मिलता है। कालिदास के नाटकों में तथा शूद्रक के मृच्दकटिक में मागधी का प्रयोग मिलता है। भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार यह अन्तःपुर के नौकर, अश्वपालक आदि की भाषा थी। मार्कण्डेय के अनुसर भिक्षु, क्षणपक, राक्षस चेह आदि मागधी बोलते थे। लंका में पालि को 'मागधी' कहते हैं। क्योंकि पालि मगध में वहाँ गई थीं इसके तीन प्रकार मिलते हैं–शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, मागधी से भोजपुरी, मैथिली, बंगला, उड़िया, असनी विकसित हुई हैं। मागधी प्राकृत भाषा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं–

(1) ष् स् को श्। पुत्तस्स > पुत्तरश, भविष्यति > भविशशदि।

(2) र को ल। पुरुषः > पुलिशे, राज्ञः > लाआणो।

(3) ज को ब होता है। संस्कृत का य पूर्ववत् रहता है। जानाति > याणदि, जायते > यायदे, यथा > यथा।

(4) द्य, र्ज, र्य को य्य होता है। अद्य और आर्य > अय्य, मद्य > मय्य।

(5) ण्य, न्य, ज्ञ और ज्ञ होता है। पुण्य > पुञ्ज अक्य > अञ्ज, राज्ञ > राञ्जो, अञ्जलि > आञ्जलि।

(6) मध्यगत च्छ को श्च होता है। गच्छति > गश्चदि।

(7) र्थ और स्थ को स्त होता है। अर्थः > अस्ते, उपस्थित > उवस्तिद।

(8) स्क को स्क, ष्ट को स्ट होता है। शुष्क > शुस्क, कस्ट > कस्ट।

(9) प्रथमा एक में विसर्ग को ऐ होता है । देवः > देवे, एष > एशे ।

4. अर्धमागधी – अर्धमागधी का क्षेत्र मागधी और शौरसेनी के मध्य में है । यह प्राचीन कोसल के समीपवर्ती क्षेत्र की भाषा थी । इसमें मागधी के गुण अधिक हैं । साथ ही शौरसेनी के गुण भी हैं अतः इसे अर्धमागधी कहा जाता है । इसको ऋषि भाषा या आर्यभाषा भी कहते हैं । भगवान् महावीर के सारे धर्मोपदेश इसी भाषा में है । इसमें प्रचुर मात्रा में जैन-साहित्य मिलता है । अतः इसका विशेष महत्त्व है । इसमें गद्य और पद्य दोनों प्रकार का साहित्य है । आचार्य विश्वनाथ न साहित्यदर्पण में इस चेट, राजपुत्र एवं सेठों की भाषा बताया हैं इसका प्राचीनतम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में मिलता है । मुद्राराक्षस और प्रबोधचन्द्रोदय में अर्धमागधी का प्रयोग हुआ है । इससे पूर्वी हिन्दी का विकास हुआ है । अर्धमागधी प्राकृत की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं–

(1) दन्त्य का मूर्धन्य होता है– स्थित > ठिय ।

(2) श, ष को स हो जाता है–श्रावक > सावक ।

(3) य को ज हो जाता है – यौवन > जोव्वण ।

(4) संयुक्त व्यंजनों में प्रायः स्वर भक्ति के द्वारा विच्छेद होता है । कृष्ण > कसिन, स्नान > सिनान ।

(5) सन्धि-स्थलों पर म् लग जाता है । अन्योन्यम् >अन्नमन्नम्, अण्णमण्णम् ।

(6) स्पर्श का लोप होने परर 'य्' श्रुति । सागर > सायर ।

(7) सन्धि-स्थलों पर स्वर भक्ति का प्रयोग होता हैं दृचहेन > दुयोहेण, स्वाख्यात > सुयक्खाय ।

(8) गद्य और पद्य में भेद हैं । गद्य में मागधी के तुल्य 'ए' और पद्य में शौरसेनी के तुल्य 'ओ' है ।

5. पैशाची – पैशाची का क्षेत्र पश्चिमोत्तर भारत एवं अफगानिस्तान का क्षेत्र थे । पैशाची को पैशाचिक, भूतभाषा, भूतभाषित आदि भी कहते थे ।

महाभारत में कश्मीर के पास रहने वाली 'पिशाच' जाति का उल्लेख है। गुणाढय की अति प्रसिद्ध रचना 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में ही थी। इस समय इस का साहित्य नगण्य है। इसका ही विकसित रूप 'लहँदा' भाषा है। हेमचन्द्र कृत कुमारपालचरित और काव्यानुशासन में तथा हम्मीरमदमर्दन नाटक में इसका प्रयोग मिलता है। राक्षस, पिशाच, निम्न कोटि के पात्र लोहार आदि इसी का प्रयोग करते थे। पैशाची प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) वर्ग के तृतीय को प्रथम वर्ण होता है। नगर > नकर, तडाग > तटाक।

(2) वर्ग के चतुर्थ का द्वितीय वर्ण निर्झर > निच्छर, मेधः >मेखो।

(3) पैशाची में पंचम वर्ण केवल 'न' है।

(4) स्ल का विपर्यय। कभी र को ल, कभी ल को र। रुद्र > लुद्द, कुमार > कुमाल, रुधिरं > लुधिरं।

(5) ज्ञ, न्य, ण्य को ञ्ज। अन्य > अञ्ज, पुण्य > पुञ्ज, प्रज्ञा > पञ्जा।

(6) स्वरभक्ति (मध्य में अ, इ, उ)। कस्टं > कसटं, स्नानं > सिनानं, भार्या > भारिया।

(7) ष का श या स। तिष्ठति >चिश्तदि, विषमः > विसगो।

(8) मध्यगत व्यंजनों का लोप नहीं होता। मधुरं > मथुरं।

प्राकृत भाषाओं की सामान्य विशेषताएँ

(1) प्राकृत भी संस्कृत के समान श्लिष्ट योगात्मक भाषा है।

(2) संस्कृत व्याकरण को सरल बनाया गया है।

(3) शब्द रूपों और धातु रूपों की संख्या कम हो गई।

(4) शब्दों के रूप केवल तीन या चार प्रकार के ही रह गये।

(5) धातु रूप भी प्रायः एक या दो प्रकार से चलने लगे।

(6) अस्पष्टता के निवारणार्थ परसर्गों (कारक चिह्नों आदि) को सृष्टि हुई ।

(7) भाषा संयोगातमक से वियोगात्मक की ओर अग्रसर हुई ।

(8) शब्द रूप प्रायः अकारान्त के तुल्य चलने लगे और धातु रूप प्रायः भ्वादिगण के समान हो गये ।

(9) चतुर्थी विभक्ति का अभाव हो गया। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के बहुवचन प्रायः एक हो गये ।

(10) लङ् लिट् और लुङ् लकारों का अभाव हो गया ।

(11) द्विवचन का अभाव हो गया ।

(12) आत्मनेपद का भी अभाव हो गया ।

(13) ध्वनि-परिवर्तन मुख्य रूप से हुआ। संयुक्ताक्षरों में प्रायः पर-सवर्ण या पूर्व सवर्ण हुआ ।

(14) कुछ प्राचीन ध्वनियों का अभाव हो गया। स्वरों में –ऋ, ॠ, ऌ, ऐ, औ। व्यंजनों में य श ष। मागधी में य श हैं स नहीं ।

(15) संस्कृत में अप्राप्त दो नये स्वर आ गये–ह्रस्व ऍ और ओ ।

(16) साधारणतया शब्द के अन्तिम व्यंजन का लोप हो जाता है ।

(17) ह्रस्व स्वर के बाद दो से अधिक और दीर्घ स्वर के बाद एक से अधिक व्यंजन नहीं रहते ।

(18) स्वर-सम्बन्धी मुख्य परिवर्तन ये हुए – (क) ऋ का अ, इ या उ हो गया। (ख) ऐ को ए, औ को ओ। (ग) मध्यगत व्यंजन का लोप होने पर पूर्ववर्ती ह्रस्व को दीर्घ स्वर। (घ) अनुदान स्वर का लोप। (ङ) संप्रसारण होकर य् का इ, व् को उ ।

(19) मध्यगत वर्णों में मुख्य अन्तर ये होते हैं– (क) मध्यगत क त प का लोप या उन्हें ग द ब होते हैं। (ख) मध्यगत य का सदा लोप होता है। (ग) मध्यगत महाप्राण वर्णों (ख, घ, थ, ध आदि) को 'ह' हो जाता है। (घ)

मद्यगत ट को ड और ठ और ढ होता है । (ङ) प को ब होता है । (च) 11 से 18 की संख्याओं में द को र होता है । (छ) श ष स को स, मागधी में श ।

(20) संयुक्ताक्षरों में मुख्य परिवर्तन ये होते हैं– (क) दो स्पर्श वर्णों में परसवर्ण होती है । (ख) स्पर्श के बाद अनुनासिक को पूर्वसवर्ण होगा । (ग) ज्ञ को ण्ण् । (घ) स्पर्श बाद में होने पर ल् को परसवर्ण । (ङ) क्ष का क्ख, या च्छ । (च) त्य > च्च्, ध्य > झ । (छ) र् को स्पर्श का सवर्ण ।

(21) प्रथमा एकवचन विसर्ग (:) मागधी में 'ए' होता है, अन्यत्र 'ओ' ।

(22) धातुओं के अर्थों में काफी अन्तर हुआ है ।

(23) संगीतात्मक स्वर के स्थान पर बलाघातात्मक स्वर कम हो गये हैं ।

(24) तद्भव शब्दों की संख्या अधिक है, तत्सम कम ।

7. आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्यभाषाएं

1. आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

उत्तर –आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास मध्यकालीन अपभ्रंश भाषाओं से हुआ है। प्राचीन पाँच प्राकृतों से पाँच अपभ्रंश भाषाओं का विकास हुआ है। इन पाँच अपभ्रंशों के साथ ही ब्राचड और खस दो अपभ्रंशां को और लिया जाता है। ब्राचड का उल्लेख मार्कण्डेय के प्राकृत-सर्वस्व में अपभ्रंश के 27 भेदों में मिलता है। खस (सश) उत्तरी पहाड़ी की भाषा थी। उसको भी अपभ्रंश में लिया है। इस प्रकार सात अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास माना जाता है।

	अपभ्रंश	विकसित आधुनिक भाषाएँ
(1)	शौरसेनी	(क) पश्चिमी हिन्दी
		(ख) राजस्थानी
		(ग) गुजराती
(2)	महाराष्ट्री	मराठी
(3)	मागधी	(क) बिहारी (ख) बंगाली
		(ग) उड़िया (घ) असमी
(4)	अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी
(5)	पेशाची	लहँदा
(6)	ब्राचड	(क) सिन्धी (ख) पंजाबी
(7)	खस	पहाड़ी

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित है–

1. पश्चिमी हिन्दी – इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। इसकी प्रमुख पाँच बोलियाँ हैं–खड़ी बोली, ब्रज भाषा, बाँगरू, कन्नौजी और बुन्देली।

(1) खड़ी बोली – यह उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों –मेरठ, मुजफ्फरनगर, देहरादून, बिजनौर, रामपुर आदि की भाषा है। यह आजकल

'राजभाषा' है। इसके दो साहित्यिक रूप हैं–हिन्दी और उर्दू। हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों की। हिन्दी की लिपि देवनागरी है और उर्दू की फारसी। कुछ विद्वान् उर्दू को हिन्दी की एक शैली मात्र मानते हैं। राष्ट्रीय भावना की जागृति के कारण इसका प्रचार-प्रसार बहुत बढ़ा है। इस समय हिन्दी में उच्चकोटि का साहित्य लिखा जा रहा है।

(2) ब्रजभाषा – यह मथुरा, आगरा, अलीगढ़, धौलपुर की भाषा है। इसके पश्चिमोत्तर भाग में राजस्थानी का और दक्षिणी भाग में बुन्देलों का प्रभाव देखा जाता है। इसमें उच्चकोटि का साहित्य विद्यमान है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं–सूर, नन्ददास, मीरा, केशव, बिहारी, देव, भूषण, घनानन्द, रसखान रहीम। यह सरलता, सरसता एवं कोमलता के लिए विख्यात है।

(3) बांगरू – यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार, पटियाला, जीन्द और नाभा की बोली है। इसके अन्य नाम हैं–हरियाणी, देसाड़ी, जाटू। इस पर राजस्थानी और पंजाबी का भी प्रभाव दिखाई देता है। यह वस्तुतः खड़ी बोली की एक विभाषा है।

(4) कन्नौजी – अवधी और ब्रज के मध्य इसका क्षेत्र है। इटावा, फर्रुखाबाद, कानपुर, शाहजहाँपुर, हरदाई, पीलीभीत आदि जिलों में यह बोली जाती है। कन्नौजी क्षेत्र के कवि हैं–चिन्तामणि, मतिराम, भूषण आदि। यह ब्रजभाषा की विभाषा है।

(5) बुन्देली – यह झाँसी, जालौन, हमीरपुर, बांदा, ग्वालियर, ओरछा, सागर, दमोह, नरसिंहपुर आदि की बोली है। मिश्रित रूप में यह पन्ना, दतिया आदि के क्षेत्रें में भी बोली जाती है। यह भी ब्रजभाषा की एक विभाषा है। इसका साहित्य नगण्य है।

2. राजस्थानी – इसका विकास शौरसेनी के नागर अपभ्रंश से हुआ है। इसका प्रमुख क्षेत्र राजस्थान हैं पिंगल के अनुकरण पर राजस्थानी में 'डिंगल' काव्य की रचना हुई है। इसकी लिपि नागरी और महाजनी है। इसकी चार प्रमुख बोलियाँ हैं–मारवाड़ी, जयपुरी, मालवी और मेवाती।

(1) मारवाड़ी – यह पश्चिमी राजस्थान की बोली है। इसका क्षेत्र है–जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, जैसमलेर आदि। पुरानी मारवाड़ी को डिंगल कहते हैं।

(2) जयपुरी – यह राजस्थान के पूर्वी भाग में बोली जाती है। इसका क्षेत्र है–जयपुर, कोटा, बूँदी।

(3) मालवी – यह राजस्थान के दक्षिण-पूर्वी भाग की भाषा है। इसका केन्द्र इन्दौर है।

(4) मेवाती – यह अलवर और हरियाणा में गुड़गाँव जिले के कुछ भागों में बोली जाती है। इस पर ब्रजभाषा का प्रभाव है।

3. गुजराती – शौरसेनी अपभ्रंश के नागर रूप से गुजराती का विकास हुआ। यह गुजरात राज्य की भाषा है। इसका राजस्थानी से बहुत साम्य है। गुजरात का प्राचीन नाम 'लाट' था। यहाँ की भाषा 'लाटी' थी। संस्कृत में 'लाटी' शैली प्रसिद्ध है। यहाँ अरब, पारसी, तुर्क आदि बड़ी संख्या में बाहर से आकर बसे हैं। अतः विदेशी तत्त्व भाषा में अधिक हैं। गुजराती की स्वतन्त्र लिपि है। वह देवनागरी से विकसित हुई है। इसमें उच्च कोटि का साहित्य मिलता है।

4. मराठी – यह महाराष्ट्री अपभ्रंश से निकली है। यह महाराष्ट्र की भाषा है। इसकी चार बोलियाँ मुख्य हैं–

(1) देशी – दक्षिणी भाग में बोली जाती है। इसको दक्षिणी भी कहते हैं।

(2) कोंकणी – समुद्री किनारे-किनारे बोली जाती है।

(3) नागपुरी – नागपुर के समीप की बोली है।

(4) बरारी – बरार की बोली है। पूना की बोली टकसाली भाषा मानी जाती है। भाषा की दृष्टि से कोंकणी में कन्नड़ शब्द अधिक हैं। बरारी में भलो और तेलुगु के तथा मराठी में फारसी के शब्द अधिक हैं। मराठी का साहित्य समृद्ध एवं उच्च कोटि का है। इसमें मुकुन्दराज, ज्ञानेश्वर, तुकाराम,

नामदेव आदि की रचनाएँ महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्तसाहित्य का विशाल भण्डार है। इसकी लिपि देवनागरी है।

5. बिहारी – यह मागधी अपभ्रंश से निकली है। वस्तुतः बिहारी कोई भाषा नहीं है। यह बिहार प्रान्त में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह का नाम हैं इसमें प्रमुख भाषाएँ हैं– भोजपुरी, मैथिली और मगही।

(1) भोजपुरी – भोजपुरी का आधार 'भोजपुर' गाँव हैं। यह शाहाबाद जिले में था। अब शाहबाद जिला का नाम हो भोजपुर हो गया है। इस भाषा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें बिहार और उत्तर प्रदेश के कई जिले हैं। बिहार का पश्चिमी भाग और उत्तर प्रदेश का पूर्वी भाग इसका क्षेत्र है। इसमें प्रमुख जिले हैं–उत्तर प्रदेश के वाराणसी, गाजीपुर, बलिया, जौनपुर, मिर्जापुर, गोरखपुर, देवरिया, बस्ती, आजमगढ़ और बिहार के भोजपुर, राँची, सारन, चम्पारन आदि। इसका स्वतन्त्र साहित्य नहीं है। कबीर, धर्मदास, भीखा साहब आदि के पदों में भोजपुरी का प्रयोग हुआ है।

(2) मैथिली – यह मिथिला क्षेत्र की भाषा है। इसका क्षेत्र है–दरभंगा पूर्णिया, सहरसा और मुजफ्फरपुर का पूर्वी भाग बिहारी भाषाओं में सबसे अधिक साहित्य मैथिली में है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं–विद्यापति, उमापति, हर्षनाथ, लखिमा, ठकुरानी, मनबोध झा आदि। मैथिली में मधुर लोकगीत है।

(3) मगही – यह पटना, गया, हजारीबाग़ एवं भागलपुर के पूर्वी भागों में बोली जाती है। इसमें लोकगीत मिलते हैं।

6. बंगाली (बंगला) – यह बंगाल प्रान्त की भाषा है। मागधी अपभ्रंश के पूर्वी रूप से इसका विकास हुआ है। इसकी साहित्यिक भाषा को 'साधु भाषा' कहते हैं। इसमें संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य है। बंगाली में उच्चारण सम्बन्धी विशेषता है। यह साहित्यिक दृष्टि से अयन्त समृद्ध है। इसके प्रमुख साहित्यकार हैं–चण्डीदास, कृतिदास (रामायण), विजयगुप्त (पद्मपुराण), रवीन्द्रकुमार ठाकुर, बंमिचन्द्र, शरतचन्द्र आदि। बंगला की लिपि अलग हैं यह प्राचीन देवनागरी से विकसित है।

7. उड़िया – यह उड़ीसा प्रान्त की भाषा है। उत्कल जाति की भाषा होने से 'उतकली' भी कही जाती है। इस पर बंगाली और तेलुगु का अधिक प्रभाव है। संस्कृत भाषा शब्द प्रचुर मात्रा में हैं इसमें 15वीं शती के पुरी और भुवनेश्वर के शिलालेख हैं। इसकी लिपि भिन्न है। यह प्राचीन देवनागरी से विकसित हुई है।

8. असमी – असमी (या असमिया) असम प्रान्त की भाषा है। इसका बंगला से अधिक साम्य है। इसकी लिपि बंगला के सदृश है, केवल दो-तीन वर्ण भिन्न हैं। इस पर तिब्बती-बर्मी, नागा आदि भाषाओं का भी प्रभाव पड़ा है। इसके प्रसिद्ध कवि हैं–माधवकन्दली, शंकरदेव, माधव राम, सरस्वती आदि।

9. पूर्वी हिन्दी – यह अर्धमागधी अपभ्रंश से विकसित हुई है इसकी तन बोलियाँ हैं– अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी, इनकी लिपि नागरी है।

(1) अवधी – यह लखनऊ, फैजाबाद, सीतापुर, रायबरेली, गोंड़ा बहराइच आदि जिलों में बोली जाती है। इसमें जायसी का पद्मावत और तुलसी का ''रामचरितमानस'' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें पर्याप्त समृद्ध साहित्य है।

(2) बघेली – यह बघेलखण्ड की बोली है। इसका केन्द्र रीवा है।

(3) छत्तीसगढ़ी – इसका विस्तार रायपुर, बिलासपुर के जिलों में था। इसमें केवल कुछ लोकगीत मिलते हैं।

10. लहँदा (लहदी) – इसका विकास पेशाची अपभ्रंश से हुआ है। यह पंजाब के पश्चिमी भाग तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग की भाषा है। पश्चिमोत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में पश्तो बोली जाती हैं लहँदा का अर्थ है–पश्चिमी इसकी लिपि लंडा है। यह उर्दू और गुरुमुखी में भी लिखी जाती हैं इसकी मुख्य चार बोलियाँ हैं–केन्द्रीय बोली, दक्षिणी (मुलतानी), उत्तर-पूर्व (पोठवारी) तथा उत्तर पश्चिमी (धन्नी)। इसमें सिक्खें का वार्ता-साहित्य जनमसाखी और लोकगीत हैं। इसका क्षेत्र अब पाकिस्तान में चला गया है।

11. सिन्धी – यह प्राचीन सिन्ध प्रान्त की भाषा थी। भारत-पाक विभाजन के बाद इसके बोलने वाले पंजाब, दिल्ली, मुम्बई आदि में बस गये

हैं । इसकी पाँच बोलियाँ हैं– बिचौली, सिरैकी, लाड़ी, थरेली, कच्छी, इनमें बिचौली मुख्य हैं । यह साहित्यिक भाषा हो गई है । इसकी लिपि लंडा हैं यह अरबी और गुरुमुखी लिपि में भी लिखी जाती है । इसमें साहित्य नाममात्र का है । उल्लेखनीय ग्रंथ 'शाहजी रिसाली' है ।

12. पंजाबी – यह पंजाब राज्य की भाषा है । पंजाबी की एक बोली डोगरी है, जो जम्मू राज्य में बोली जाती है । पंजाबी की लिपि गुरुमुखी हैं इसमें सिक्खों का साहित्य विशेष रूप से लिखा जा रहा है । इसमें संस्कृत और प्राकृत के शब्द अधिक हैं । श्रीगुरुग्रंथसाहिब, दशमग्रंथ आदि पंजाबी भाषा के विश्वविख्यात ग्रंथ है ।

13. पहाड़ी – खस अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है । यह हिमालय के निचले भाग में बोली जाती है । इसकी लिपि नागरी है । इसके तीन भाषा वर्ग हैं– (1) पश्चिमी, (2) मध्य, (3) पूर्वी । पश्चिमी पहाड़ी में लगभग 30 बोलियाँ है । मध्य पहाड़ी के दो भाग हैं– (1) गढ़वाल की गढ़वाली, (2) कुमायूँ की कुमायूँनी कुमायूँनी में थोड़ा साहित्य है । इनका लोक साहित्य सम्पन्न है । पूर्वी पहाड़ी में नेपाली है । इसको खसकुरा, गोरखाली, पर्वतीय भी कहते हैं । यह नेपाल की राजभाषा है । इसका साहित्य नवीन है ।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की विशेषताएँ

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ अग्रलिखित हैं–

(1) आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में प्रमुखतः वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में थीं, किन्तु कुछ विशेषताएँ भी हैं–(क) पंजाबी आदि में उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा हैं अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरों का प्रयोग होता है । गुजराती में मर्मर स्वर का विकास हो गया है । प्राकृत-अपभ्रंश में केवल मूल स्वर थे, परन्तु अवहट्ट में ऐ, औ विकसित हो गए थे । कई आधुनिक भाषाओं में इनका प्रयोग होता है, यद्यपि कुछ बोलियों में केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, संयुक्त स्वरों का नहीं । (ख) 'ऋ' का प्रयोग तत्सम शब्दों में लिखने में चल रहा है, लेकिन बोलने में यह स्वर न रहकर 'र' के साथ इ या उ स्वर का योग रह गया है । उत्तरी भारत में

इसका उच्चारण 'रि' है और गुजराती आदि में 'रु' । (ग) व्यंजनों में जहाँ तक ऊष्मों का प्रश्न है लिखने में तो प्रयोग स, ष, श तीनों का हो रहा है, किन्तु उच्चारण में स, श दो ही हैं । 'ष' भी 'ष' रूप में उच्चारित होता है । चवर्ग के उच्चारण में आधुनिक काल में एकरूपता नहीं है । हिन्दी में ये ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, परन्तु मराठी में इनका एक उच्चारण त्स (च) दूज (ज) जैसा भी है । वास्तविकता यह है कि मराठी में दो चवर्ग हो गये हैं । संयुक्त व्यंजन 'ज्ञ' के शुद्ध उच्चारण (ज्ञ) का लोप हो चुका है, उसके स्थान पर ज्यँ, ग्यँ और द्यँ, द्नँ आदि कई उच्चारण चल रहे हैं । (घ) विदेशी भाषाओं के प्रभाव-स्वरूप आधुनिक भाषाओं में कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, जैसे क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ऑ आदि । इन ध्वनियों का लोकभाषाओं में तो क, ख, ग, ज, फ, आ के रूप में उच्चारण हो रहा है, किन्तु पढ़े-लिखे लोग इन्हें प्रायः मूल रूप में बोलने का प्रयोग करते हैं । संगम तथा अनुनासिकता प्रायः सभी में स्वनिमिक है ।

(2) जिन शब्दों में उपधा स्वर या अन्तिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वाराघात था, उनके अन्तिम दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो गए हैं तथा अन्तिम 'अ' स्वर कुछ अपवादों (संयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्रायः लुप्त हो गया है (राम्, अब्, आदि) ।

(3) प्राकृत आदि में जहाँ समीकरण के कारण व्यंजनद्वित्त या दीर्घ व्यंजन (कर्म-कम्म) हो गये थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' में केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूरक दीर्घता आ गई (कम्म–काम, अट्ठ–आठ)। पंजाबी, सिन्धी अपवाद हैं, उनमें प्रायः प्राकृत से मिलते-जुलते रूप हो चलते हैं (अट्ठ, लम्म) ।

(4) बलात्मक स्वराघात है । वाक्य के स्तर संगीतात्मक बी है ।

(5) संस्कृत, पालि आदि की अपेक्षा अपभ्रंश में रूप कम हो गये थे । आधुनिक भाषाओं में अपभ्रंश की अपेक्षा और भी रूप कम हो गए हैं । इस प्रकार भाषा सरल हो गई है । संस्कृत आदि में कारक के तीनों वचनों में लगभग 24 रूप बनते थे । प्राकृत में लगभग 12 हो गए थे, अपभ्रंश में 6 और आधुनिक भाषाओं में केवल दो, तीन या चार रूप हैं । क्रिया के रूपों में

भी पर्याप्त कमी हो गई है । क्रियार्थ या काल आदि तो सभी, बल्कि संस्कृत आदि से अधिक व्यक्त कर लिये जाते हैं, किन्तु सबके रूप अलग नहीं है । सहायक शब्दों से काम चल जाता है । मूल रूप थोड़े है । ।

(6) रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी । अयोगात्मक अपभ्रंशों से शुरू हुई और अब आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्ण रूपे अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई है । कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो अपवाद स्वरूप । नाम रूपों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है और धातु-रूपों के लिए कृदन्त और सहायक क्रिया के आधार पर संयुक्त क्रिया का ।

(7) संस्कृत में वचन तीन थे । मध्यकालीन आर्यभाषाओं में ही द्विवचन समाप्त हो गया था और आधुनिक काल में भी केवल दो वचन हैं । अब प्रवृत्ति एकवचन की है । लगता है कि आगे चलकर रूप केवल एकवचन के रह जाएँगे और दो, तीन या अधिक का भाव सहायक शब्दों से व्यक्त किया जाएगा । जैसे हिन्दी में 'मैं' के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है । उसके स्थान पर 'हम' चल रहा है, जिसके बहुवचन का कोई अलग रूप नहीं होता, केवज 'लोग' या 'सब' जोड़कर काम चला लेते हैं ।

(8) संस्कृत में लिंग तीन थे । मध्ययुगीन भाषाओं में भी स्थिति यही थी । आधुनिक काल में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी तथा हिन्दी में दो लिंग हैं—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग । सम्भवतः तिब्बत, बर्मी, मुंडा आदि भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली, उड़िया, असमी में लिंगभेद कम सा है । बिहारी, नेपाली में भी समाप्त होता सा दिखाई दे रहा है । तीन लिंग केवल गुजराती, मराठी और सिंहली में हैं ।

(9) आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भण्डार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पस्तो, तुर्की, अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेज़ी आदि से लगभग 9000 नये विदेशी शब्द आ गए हैं । इनके पूर्व भाषाओं का प्रमुख शब्द-भण्डार तत्सम, तद्भव और देशज का ही था । मध्ययुगीन भाषाओं की अपेक्ष आज तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो रहा है और तद्भव का अपेक्षाकृत कम । इधर पारिभाषिक शब्दावली की कमी दूर

करने के लिए नए शब्द बनाए और अपनाए जा रहे हैं। अनुकरणात्मक एवं प्रतिध्वन्यात्मक शब्द बहुत प्रयुक्त होने लगे हैं।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में सिन्धी, गुजराती, लहँदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगाली, असमिया, हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कश्मीरी भी भारत की एक महत्त्वपूर्ण भाषा है, किन्तु मूलतः वह भारत-ईरानी की दरद शाखा में आती है। उर्दू वास्तव में भाषावैज्ञानिक स्तर पर हिन्दी की ही अरबी-फारसी से प्रभावित एक शैली है। राजस्थानी, पहाड़ी तथा बिहारी को लोगों ने अलग रखा है, किन्तु ये हिन्दी प्रदेश में आती है। वास्तव में अब भाषा के आकृतिमूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से सांस्कृतिक वर्गीकरण को कम महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता और इस दृष्टि से ये सभी—राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी हिन्दी के सांस्कृतिक वर्ग में आती हैं। भारत के बाहर बोली जाने वाली आधुनिक आर्यभाषा में नेपाली, सिंहली तथा जिप्सी भी उल्लेखनीय हैं।

2. आधुनिक भारतीय हिन्दीतर आर्यभाषा मराठी तथा गुजराती का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

अथवा

मराठी तथा गुजराती भाषा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर – मराठी महाराष्ट्र की भाषा है। यह लगभग एक लाख वर्गमील में उत्तर में सतपुड़ा पहाड़ियों से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक तथा पूर्व में नागपुर से लेकर पश्चिमी में गोवा तक बोली जाती है। 'मराठी' नाम 'महाराष्ट्री' से सम्बद्ध है। डॉ. गुणे, जूल ब्लाक आदि विद्वान् मराठी का सम्बन्ध महाराष्ट्री प्राकृत और महाराष्ट्री अपभ्रंश से मानते हैं। इसी रूप में डॉ. घोष आदि ने उसे शौरसेनी के बाद की माना है। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि 'मराठी' नाम 'महाराष्ट्री' का विकसित रूप हैं और मराठी भाषा का चाहे प्रसिद्ध महाराष्ट्री प्राकृत से सम्बन्ध न हो, किन्तु उस प्राकृत से, वह अवश्य सम्बन्धित है जो प्राकृत-काल में मराठी क्षेत्र में प्रयुक्त होती थी। मराठी भाषा के प्राचीनतम रूप 488 ई. के मंगलवेट्ठे ग्राम के ताम्रमेल मिलते हैं। 736 ई. के चिकुर्डे-तामगलेख में भी इसके कुछ रूप हैं मराठी का प्राचीनतम वाक्य 983 ई. के गोमतेश्वर के शिलालेख में मिला है। इसका

अर्थ यह है कि 1000 ई. से पूर्व ही इस भाषा के बीज पड़ चुके थे। क्षेत्रीय बोली या भाषा के रूप में इसका प्राचीनतम उल्लेख आठवीं सदी के ग्रंथ 'कुवलयमाला' में आता है—'दिण्णल्ले गहिल्ले उल्लयिरे तथ्य मरहट्ठे'। मराठी भाषा के रूपों एवं वाक्यों की परम्परा प्राचीन होने पर भी मराठी साहित्य का प्रारम्भ बारहवीं सदी के पूर्व नदी माना जा सकता। मराठी के आदि कवि मुकुन्दराय (1128-1198) हैं जिनका प्रधान ग्रंथ 'विवेकसिंधु' है। मराठी साहित्य की मुख्य रूप से महानुभाव काल, ज्ञानेश्वर नामदेव काल, एकनाथ काल तुकाराम-रामदास काल, मोरोपन्त काल, प्रभाकरराप जोशी काल तथा आधुनिक काल, इन कालों में बाँटा गया है। इन कालों के नामों से ही मराठी के प्रमुख कवियों के नामों का पता चल जाता है। सन्त ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' मराठी के प्राचीन साहित्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। मराठी में संस्कृत के तत्सम शब्दों की संख्या पर्याप्त है। साथ ही इस पर द्रविड़ परिवार विशेष रूप से कन्नड़ का भी भौगोलिक स्थिति के कारण प्रभाव पड़ा है। मराठी की ध्वनि की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कुछ चवर्गीय ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं। जैसे 'च' एक तो सामान्य है और एक 'त्स' जैसा। मराठी का बलात्मक स्वराघात भी उसकी अपनी विशेषता है। इस रूप में अन्य किसी भी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा में यह नहीं हैं परिनिष्ठित मराठी को देशी भी कहते हें। ग्रियर्सन ने मराठी की लगभग 39 बोलियों का उल्लेख किया है, वस्तुतः इनमें सभी बोलियाँ न होकर बहुत सी उपबोलियाँ तथा स्थानीय रूप भी है।

मराठी की सर्वाधिक प्रसिद्ध बोली कोंकण या कोंकणी है जिसे अब डॉ. कत्रे आदि विद्वान् बोली न मानकर अलग भाषा मानते हैं। इसकी बोलियाँ या उपबोलियाँ कुंडाली, दालची तथा चितपावनी आदि हैं। कोंकणी के अलावा इसकी एक बोली कोकन या परिनिष्ठित कोकन है जिसकी उपबोलियाँ परभी, कोळी, किरिरताँब, व्हांडी, कुणबी, अगरी, धंगरी, भांडरी, ठाकरी, संगमेश्वरी, बांकोटी, घाटी, माओली, काथोड़ी, वारली, बाडवळ, फुडगी तथा सामवेदी आदि हैं। कोंकन या परिनिष्ठित कोंकन, व्याकरिणक दृष्टि से परिनिष्टित मराठी तथा कोंकणी के बीच की बोली है। बरार, मध्य प्रदेश तथा हैदराबाद आदि में मराठी की कई बोलियाँ या उपबोलियाँ बोली जाती हैं जिनमें वहाड़ी, नागपुरी, धगरी, झार्पी, गोवारी, कोष्टी, कुम्हारी, कुनवाऊ, माहारी, मरहटी,

नतकानी, नतिया आदि प्रमुख हैं। मराठी की कुछ मिश्रित बोलियाँ हलबी, भुंजिआ, नाहरी तथा कमारी की मानी जाती हैं। इनमें हलवी वास्तव में हिन्दी की उपबोली है। मराठी भाषा के लिए देवनागरी लिपि का प्रयोग होता है। पत्र-व्यवहार में कभी-कभी मोडी भी प्रयुक्त होती है। कोंकणी अलग भाषा मानी जाने लगी है। मातृभाषियों की संख्या के आधार पर मराठी विश्व में पन्द्रहवें और भारत में चौथे स्थान पर है। इसे बोलने वालों की कुल संख्या लगभग 9 करोड़ है।

गुजराती भाषा

यह गुजरात की भाषा है। 'गुजरात' शब्द का सम्बन्ध 'गुर्जर' जाति के लोगों से है। ये लोग मूल रूप से शक थे और पाँचवीं सदी के लगभग भारत में आए थे। पहले इनका क्षेत्र पंजाब एवं राजस्थान था, बाद में मुसलमानों के आक्रमण के कारण ये गुजरात की ओर चले गए। इस प्रदेश में इनको 'त्राण' मिला, इसी कारण वह गुजरात कहलाया। 'गुजरात' शब्द 'गुर्जर + त्रा' से बना माना गया है—गुर्जर+त्र > गुज्जरत्ता > गुजरात। इस प्रकार का विकास मानने का कारण यह है कि आठवीं, नवीं तथा दसवीं सदी के कुछ अभिलेखों में 'गुर्जरत्रा-भुमि' तथा गुज्जरत्ता' आदि शब्द मिले हैं। गुजरात या गुर्जर देश केवल माउंट आबू के उत्तर का प्रदेश था, किन्तु बाद में धीरे-धीरे उसके दक्षिण का भाग भी गुजरात के अन्तर्गत आ गया। अब कच्छ आदि भी इसमें शामिल हैं। 'गुजरात' शब्द का प्रयोग वैसे तो 1000 ई. के लगभग से प्रारम्भ हो गया था, किन्तु भाषा के अर्थ में गुजराती शब्द का प्रयोग अभी तक सत्रहवीं सदी से पूर्व नहीं मिला है। इसका प्रथम प्रयोग प्रेमानन्द (1649-1714 ई.) के 'दशम-स्कन्ध' में हुआ है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुजराती भाषा उस समय नव विकसित नहीं हुई थी। अन्य देशी भाषाओं से अलग इसे लोग आठवीं सदी में ही पहचानने लगे थे। उद्योतन सुरि के 'कुवलयमाला' में व्यक्त किया गया है—'अहं पेच्छइ गुज्जरे अवरे'। 11वीं सदी तक आते-आते भाषा कुछ और विकसित हो गई, यद्यपि मारवाड़ी आदि राजस्थानी भाषाओं से इतनी भिन्न नहीं थी कि इसे स्वतन्त्र भाषा माना जा सके। प्रसिद्ध इटेलियन विद्वान् तेसितोरी ने कहा है कि 1600 ई. तक या उससे कुछ बाद तक पश्चिमी राजस्थान तथा गुजरात की भाषा प्राचीन

राजस्थानी थी । वर्तमान गुजराती का सुस्पष्ट रूप सत्रहवीं सदी के मध्य से दिखाई पड़ने लगता है । गुजराती का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से है, जैसा भौगोलिक स्थिति से स्पष्ट है । इसे नागर अपभ्रंश भी कहा गया है । गुजराती विद्वान् उमाशंकर जोशी इसे 'मारू गुर्जर' तथा कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी 'गुर्जर' अपभ्रंश कहते हैं । गुजराती साहित्य का प्रारम्भ कुछ लोग बारहवीं सदी से ही मानते हैं ।

हेमचन्द्र के व्याकरण में कुछ छन्द ऐसे हैं जिनको प्राचीन गुजराती कहा जा सकता है । तेरहवीं सदी से इसके प्राचीन रूप का समारम्भ हो गया था । तब से आज तक इसमें साहित्य रचना हो रही है । प्राचीन गुजराती के प्रमुख साहित्यकार विनयचन्द्र सूरि (13वीं सदी), राजशेखर (14वीं सदी), नरसी मेहता (15वीं सदी) आदि हैं । चौदहवीं सदी तक की भाषा अपभ्रंश से बहुत अधिक आक्रान्त हैं । गुजराती का मध्यकाल 'प्रेमानन्द-युग' भी कहा जाता है । इस युग में प्रेमानन्द तथा अखा प्रसिद्ध है । गुजराती की लिपि अपनी है जो नागरी से बहुत मिलती-जुलती हैं यह शिरोरेखाविहीन होती है । गुजराती भाषा लगभग 7 लाख 10 हजार वर्ग मील में फैली हुई है । जनगणना के अनुसार इसके बोलने वालों की संख्या लगभग 6 करोड़ है । गुजराती की प्रमुख बोलियाँ नागरी, बंबइया, गामड़िया, सुरनी, अनावला, पूर्वी-भड़ौंची, चगेतरी, पाटीदारी, वडोदरी, पट्टनी, काठियावाड़ी (इसमें झालवाडी, सीरठी, हालाडी, गोलिहवाडी, आदि उपबोलियाँ आती हैं), वीरासाई, खाग्वा, पटलूणी, काकरी, तारीमुकी आदि हैं ।